अध्याय–चतुर्थ

नाट्यशास्त्र में वर्णित ताल की वर्तमान उपयोगिता एंव संभावनाएं

- **4:1** विभिन्न अध्यायों में वर्णित ताल की वर्तमान उपयोगिता
- **4:2** नाट्यशास्त्र में वर्णित तालों की वर्तमान उपयोगिता
- **4:3** संगीत में तालों की वर्तमान उपयोगिता

अध्याय चतुर्थ

नाट्यशास्त्र में वर्णित ताल की वर्तमान उपयोगिता एंव संभावनाएं

भारतीय संस्कृति की प्राचीन समय में चली आ रही गौरवशाली परिपाटी की एकनिष्ठ धरोहर है, और यह सांस्कृतिक शिष्टता का परिचय देने वाले तथा अध्यात्म की शक्तिशाली नींव और कला का उन्नत सार तत्व ही भारतीय संगीत है। संसार की उत्पत्ति के समय से ही समस्त विश्व की हर एक क्रिया–कलाप में आच्छादित होकर, संगीत उसे जीवन्त बना रहा है। प्राचीन कला से ही संगीत हमारे अध्यात्मिक तथा भावात्मक जीवन से सम्बधिंत रहा है। भारतीय संगीत की नितान्त अटल तथा गौरवयुक्त रीति में नाद ब्रह्म को परमेश्वर का स्वरूप माना गया है तथा स्वर को ईश्वर माना है। शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात् यह ज्ञात होता है, कि ब्रह्म असीम अद्वैत होते हुए, भी परब्रह्म तथा शब्द ब्रह्म इन दोनों रूपों में इसकी कल्पना की जाती है।

''शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्मधिगच्छति''[(1)]

अर्थात्– शब्द ब्रह्म में दक्षता हासिल करने वाला जीव ही परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[(2)] शब्द तथा नाद की प्रकृति से निर्मित इस संसार में जो वास्तविकता समस्त जड़–चेतना, जो पूरे संसार को एक सुत्र में समान भाव से बाँधता है, वह संगीत है। संगीत सर्वभौमिक, महाकाय क्षेत्र में आदिकाल से उसकी निरन्त भावा–वेग से भारतीय संस्कृति को भावास्मरणीय रूप में दृष्टिगत होती है। संगीत कला सभी ललित कलाओं में सर्वोत्तम मानी जाती है, क्योंकि चित्त को निरन्तर कर उसे मोक्ष तक पहुँचाने का माध्यम संगीत से अधिक सरल मार्ग और कोई नहीं मोक्ष प्राप्ति के अन्य संगीत द्वारा जन समाज का मनोरंजन भी होता है। संगीत के बिना मनुष्य के जीवन के सभी पक्ष आनन्द रहित, निरर्थक व नीरस ज्ञात होते है। वैज्ञानिक दृष्टि से अगर देखा जाए, तो संगीत की उत्पत्ति ध्वनि के कम्पन द्वारा हुयी है, किन्हीं दो वस्तुओं के आपसी टकराव के माध्यम से वातावरण में वायु आन्दोलित होकर कम्पन उत्पन्न कर हमारे कर्णों में प्रवेश कर हमारे कर्ण यन्त्रों को कम्पित करती है। जिससे हमारी ज्ञान मूलक मनोवृत्ति को ध्वनि या नाद का अनुभव होता है। ध्वनि या नाद यह दो प्रकार के होते

---

(1)आपटे गणेश विनायक (संपादक)/उपनिषदां समुच्चयः–ब्रह्मबिन्दुपनिषद/श्लोक–17
(2) नाहर, साहित्य कुमार/भारतीय शास्त्री,य संगीत मनोवैज्ञानिक आयाम/पृष्ठ–2

है। एक वह ध्वनि (नाद) जिसका संगीत में प्रयोग होता है तथा दूसरा वह जो संगीत में प्रयोग नहीं होता, जो ध्वनि का कम्पन नियम के अनुकूल न होता हो उससे जो ध्वनि की निर्मिति होती है। वह संगीत के लिए उपयोगी नहीं होता तथा जब ध्वनि का कम्पन एक नियम से होता है, उससे जिस नाद की उत्पत्ति होती है। वह संगीत के लिए उपयोग में लायी जाती है। अर्थात् वह नाद संगीत के लिए उचित है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संगीत में गति अर्थात् लय का प्रथम तथा मुख्य स्थान है। गीत केवल संगीत के लिए ही प्रमुख तत्व नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन ही गति पर आश्रित है। संगीत में यह नियोजित गति ही लय कहलाती है। सम्पूर्ण प्रकृति लयबद्ध है। मनुष्य ने लय का ज्ञान प्रकृति द्वारा ही प्राप्त किया है, जो बल–अबल के मनोभाव की जननी है। लय (गति) का प्रबल–अबल अनजाने ही उत्पन्न होती है। घड़ी की टिक–टिक को निरन्तर सुनने पर उसकी एक ध्वनि प्रबल तथा दूसरी ध्वनि अबल सुनायी देती है।। ऐसी सभी प्रकार की बल–अबल ध्वनियाँ जो सुनी जाती है। वह अपना एक समूह बना लेती है तथा एक दूसरे से विभाजित होती रहती है, जो हमें प्रसन्नता प्रदान करती है। पहले इन प्रबल–अबल गति खण्ड़ों के छोटे–छोटे भाग प्रकट होते है, फिर यह विभाग क्रमानुसार विस्तृत होने लगते है। यह बल–अबल खण्डों का समूह हमारे जीवन में हर तरफ विद्यमान है। इन्हीं लय खण्ड़ों के समूहों के विस्तार से ही भारतीय संगीत में ताल के रूप में निर्मित होता है। संगीत का दूसरा तत्व स्वर है। जिसमें प्रकृति का विस्तार रूप कथित होता है। भारतीय संगीत की वास्तविकता ताल तथा स्वर पर अश्रित होती है।

भारतीय संगीत में ताल का आरम्भ कब से हुआ है। इस बात को प्रमाण युक्त कहना असम्भव है। स्वर से सम्बन्धित उल्लेख वैदिक काल से प्राप्त होता है। वैदिक काल विशेषता सामवेद में स्वरों का उल्लेख प्राप्त होता है। सामवेद स्वरों में युक्त ऋचाओं का संकलन है। सामवेद भारतीय संगीत का प्रथम व अति प्राचीन महान ग्रन्थ है। सामवेद की हर एक ऋचा को, उसके हर एक मन्त्र को आज भी स्वरों का रूप दिया जाता है। संगीत शास्त्र के साथ–साथ ब्रह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों तथा पुराणों में सामवेद की कीर्ति का बखान किया है। यजुर्वेदकालीन यज्ञों में सामगान करना नितान्त आवश्यक था तथा उस समय का सामगान की शिक्षा सामवेदियों तक की सीमा में बद्ध न रहकर सभी वैदिकों के लिए अनिवार्य हो गयी थी। वेद कालीन संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य के साथ–साथ हाथ से मात्रा गिनकर ताल देने

की प्रथा थी। भारतीय संगीत के दो आधार स्तम्भ है, स्वर और ताल। संगीत में ताल की उतनी ही महत्वता है, जितनी साहित्य में छन्द की। संगीत में ताल का प्रारम्भ कब हुआ, इसका कोई प्रमाण सिद्ध नहीं होता, परन्तु भारतीय संगीत में ताल तथा उसके मूल सिद्धन्तों का सर्वप्रथम वर्णन भरत मुनि द्वारा रचित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने ताल का वर्णन करते हुए कहा है कि–

तालो घन इति प्रोक्ताः कला–पात–लयान्वितः ॥
कलास्तस्य प्रमाणं वै विज्ञेयं ताल्योक्तृभिः ॥।।[(1)]

अर्थात्– कला, पात तथा लय के योग से जो काल का खण्ड़ जिसे घन वाद्य के द्वारा दर्शाया जाता है, उसे ताल कहा जाता है। संगीत का प्रयोग करते हुए जब ताल की व्यवस्था होती है। उस समय के मापन क्रिया को "कला"की संज्ञा दी गयी है तथा उस समय उसका अर्थ भी ताल का प्रमाण निदर्शक काल होता है। अतः नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने वर्णन करते हुए कहा है कि–

कला–कालप्रमाणेन ताल इत्यभिसंज्ञितः ॥[(2)]

अर्थात्– कलाओं के द्वारा गीत का कालकृत खण्ड़ ताल कहा जाता है। भरत मुनि के अनुसार ताल का सम्पूर्ण ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति न तो गायक तथा न ही अच्छा वादन हो सकता अर्थात् सभी को ताल प्रयत्न पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है।[(3)]

भारतीय संगीत में ताल शब्द को विभिन्न अर्थो से स्पष्ट किया है। संगीत रत्नाकर में शारंगदेव ने ताल शब्द की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है।

तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्धाञि स्मृतः ॥
गतिं वाद्यं तथा नृतं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ॥[(4)]

अर्थात् ताल शब्द की उत्पत्ति ''तल'' धातु के साथ धञ प्रत्यय लगने से हुई है, तल का अर्थ आधार तथा जिस आधार पर गायन, वादन तथा नृत्य किया जाता है, वह ताल है, **अर्थात्** गान, वाद्य और नृत्य को प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले तत्व को ताल कहा जाता है। यहाँ प्रतिष्ठा

---

(1) शुक्ल शास्त्री,बाबूलाल (अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / श्लोक–1 / अध्याय–31
(2) शुक्ल शास्त्री,बाबूलाल (अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / श्लोक–6 / अध्याय–31
(3) शुक्ल शास्त्री,बाबूलाल (अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / श्लोक–84–85 / अध्याय–31
(4) चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–2

शब्द का अर्थ आधार, व्यवस्थित करने वाला है क्योंकि ताल संगीत में गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीनों विधाओं को धारण करके उन्हें व्यवस्थित करता है तथा एक सूत्र में बाँधता है या प्रतिष्ठा प्रदान करता है। पं. नारद कृत संगीत मकरन्द में भी ताल की उत्पत्ति का वर्णन इसी प्रकार है।

तालशब्दस्य निष्पत्तिः प्रतिष्ठार्थेन धातुना॥
गीत वाद्यं च नृत्यं च भाति ताले प्रतिष्ठतम्॥[1]

संस्कृत ग्रन्थों में ताल की निर्मित छंद से हुयी, षड़वेदांगों में शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, व्याकरण, निरूक्त तथा छन्द। इस प्रकार छः वेदांग कहे है। ऋग्वेद काल में जो अक्षर–नियम का वर्णन किया उसी को छन्द कहा है। ऋग्वेद के प्रत्येक मंत्र को छन्द रूप दिया गया है। मन्त्रों की रक्षा करने हेतु उनकों छिपाकर रखने के कारण उनको ''छन्दस'' कहा गया है। वेदों में छन्दों की उत्पत्ति के आधारित एक कथा प्राप्त होती है।

जब देवों तथा असुरों के मध्य युद्ध चल रहा था, तब देवों द्वारा मंत्र बल के प्रयोग से असुरों पर आघात किया गया तथा असुरों द्वारा अपनी माया द्वारा इनकों नष्ट करने के उद्देश्य को देखते हुए, देवताओं ने मंत्रों कि रक्षा तथा सुरक्षित करने हेतु, प्रत्येक मन्त्र को एक कवच दिया, जो छन्द रूप था, जिसके अक्षर के नियम गुरू लघु तथा प्लुत में बनाएँ, जिससे मन्त्रों को सुरक्षित करना सम्भव हो सका।[2] अभिनव गुप्त ने ताल का वर्णन करते हुए कहा है–**''तले भवस्ताल''**[3] यहाँ तल का अर्थ है, आधार या नींव, जो किसी चीज़ को अपने ऊपर धारण करता है, जैसे किसी चीज़ को हाथ में रखते है, तो हाथ का वह भाग जो उस वस्तु को धारण किये हुए हो या हाथ का वह भाग जिसमें कोई वस्तु रखी होती है, वह हस्ततल या हथेली कही जाती है। पैर का वह भाग जो पूरे शरीर को अपने ऊपर धारण करता है, उसे पदतल कहा जाता है। पृथ्वी भी अपने ऊपर हर एक वस्तु को धारण करती है, जिस कारण उसे भूतल, पृथ्वीतल या धरातल कहते है। उसी तरह से संगीत में काल को दर्शाने वाला क्रियात्मक विभाग जो संगीत की तीनों विधाओं को गायन, वादन तथा नृत्य को अपने ऊपर धारण किए होता है, वह ताल कहलाता है, तथा जो सशब्द और निशब्द क्रिया के संयोग के

(1) पं0 नारद / संगीत मकरंद / नृत्याध्याय तृतीयपाद / श्लोक–48
(2) शास्त्री, के0 वासुदेव / संगीतशास्त्र / पृ0–206
(3) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृ0–152

काल का खण्ड़ करता है या काल को विभाजित करता है। अतः गीत में क्रिया के काल मापन को ताल कहा जाता है।

यद घनं नाम वाद्यमातोद्यं प्रोक्तमुदिृष्टं तस्य तालेन भाविना शम्यादिसशब्दावा पानिः शब्दक्रियाविशेषणयोगे न सति यस्तालः परिच्छित्यात्मक काल खण्ड़ें: क्रियारूपो द्रव्यात्मा सः एव गीतक्रिया प्रमाण परिच्छेदोपायः॥(1)

मानसोल्लास– 12 वीं शताब्दीं के महान ग्रन्थ मानसोल्लास यह एक संस्कृत ग्रन्थ है, जिसकी रचना चालुक्य वंश के राजा सोमेश्वर ने की थी। इस ग्रन्थ में उन्होनें ताल का वर्णन करते हुए कहा है–

न तालेन बिना गीत न वाद्यं तालवर्जितम।
न नृत्य तालहींन स्यादतरूतलोऽत्र कारणम।
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रितयं येन लभ्यते।।(2)

अर्थात्– बिना ताल के गीत, वाद्य तथा नृत्यं नहीं किया जाता को संगीत का कारक कहा जाता है, क्योकिं ताल द्वारा ही गीत, वाद्य तथा नृत्य को एक बुनियाद मिलती है।

संगीतोपनित्सारोद्धार– 14वीं शताब्दीं में सुघाकलश द्वारा रचित ग्रन्थ संगीतोपनित्सारोद्धार ताल सम्बन्धित वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है।

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं तालवर्ज न शोभते।
तालाभावान्न मेलः स्यादमेलादव्यवस्थितिः।।

न रंड्गमवयवस्थो बिना रंड्ग कुतो लयः।
लयं बिना न सौख्यं स्यात् तन्मूंल ताल उच्यते।।(3)

अर्थात्– गायन, वादन तथा नृत्य ताल विहीन होने पर किसी भी प्रकार से शोभा नहीं देते और ताल के अभाव में इनमें किसी भी प्रकार की व्यवस्था को स्थापित नहीं की जा सकती और उसमें कोई भी रंग तथा रंजकता उत्पन्न नहीं होगी, जिससे उसमें लय की स्थापना सम्भव नहीं है और कहा जाता है कि शायद लय के न होने पर ताल स्थापित नहीं होगी जो किसी भी प्रकार सुख प्रदान नहीं करेगा।

---

(1) अभिनव गुप्त/अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/पृ0–151
(2) पं0 सोमेश्वर/मानसोल्लास/अध्याय–16/विशांति–4 नियत भाग/श्लोक–837–839
(3) सुधाकलश/संगीतोपनित्सारोद्धार/अध्याय–2/श्लोक–5–6

संगीत दर्पण– 17वीं शताब्दीं के प्रारम्भिक काल में पं0 दामोदर द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत दर्पण सात अध्याय का यह ग्रन्थ संगीत का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में ताल की व्याख्या पं0 दामोदर ने कात्यायन, याजवल्क्य, शिवकिड्कर, हरिभट्ट, विनोद इन सभी विद्वानों के ताल सम्बधित मतों को उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है।

कात्यायन– ऋषि कात्यायन द्वारा ताल के विषय में बताते हुए कहा गया है कि–

तौर्यत्रिंक च मत्तेभस्तालं तस्याड्कशंविदुः।(1)

गायन, वादन और नृत्य को एक अल्लहड़ हाथी की उपमा दी है, और कहा है कि जिस प्रकार महावत अंकुश(एक प्रकार का भाला जिसके द्वारा हाथी को नियंत्रित किया जाता है) के माध्यम से हाथी को उसके सही पथ पर चलाने हेतु दिशा–निर्देश देता है, उसी प्रकार संगीत में ताल गायन, वादन तथा नृत्य में उसी अंकुश की भाँति दिशा निर्देश देता है।

याज्ञवल्क्य– याज्ञवल्क्य द्वारा कहा गया है कि–

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग सगच्छति।।(2)

अर्थात्–श्रुति, जाति तथा वीणा वादन के नियम व लक्षण का ज्ञान रखने वाले और साथ ही जो ताल का भी ज्ञाता हो अर्थात् ताल का ज्ञान रखने वाला मोक्ष के मार्ग की ओर जाता है।

शिवकिड्कर– श्विकिड्कर जी द्वारा ताल का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि–

तालोलध्वादिमित्या क्रियया सम्मितो मितिम्।
गीतादेर्विदधत्कालः सचद्धेयाबुधेः स्मृतः।।(3)

अर्थात्– लघु आदि क्रियाओं के माध्यम से गीत के काल की व्यवस्था आदि की जाए, उसे ताल कहा जाता है।

हरिभट्ट– द्वारा वर्ण किया गया है कि–

तालः कालइति ख्यातो हमवापादिक्रियामितः।
प्राणैस्तु दराभिर्युक्ताः तौर्यत्रयमितोभवेत्।।(4)

---

(1) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–621 / पृ0–108
(2) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–622 / पृ0–108
(3) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–626 / पृ0–109
(4) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–627 / पृ0–109

अर्थात्– दस प्राणों के लक्षणों से युक्त वाद्य के त्रिय रूपों तथा आवाप आदि क्रियाओं के समान काल खण्ड़ को ताल कहा जाता है।

विनोद– द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है–

हस्त द्वयस्यसंयोगे वियोगेचापि वर्तते।
व्याप्यमानो दशप्राणै स्स कालस्तालसंज्ञंक।।[1]

अर्थात्– दोनों हाथों द्वारा एक साथ संयोग तथा वियोग से दश प्राणों में व्यक्त काल को ताल की संज्ञा दी गयी है।

पं0 दामोदर कृत संगीत दर्पण में ताल की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार कहा है।

तालस्तलप्रतिष्ठायां इति धातोर्धञिस्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितं।।[2]

अर्थात्– तल् धातु में ञ् प्रत्यय लगाने पर ताल शब्द की उत्पत्ति होती है तथा गायन, वादन तथा नृत्य को आधार प्रदान करने वाला ताल कहा जाता है।

पं0 दामोदर द्वारा वर्णन किया है कि काल के द्वारा ताल की उत्पत्ति कही है। जिसे द्रुत आदि से सम्बन्धित गीतों आदि के मापन क्रिया को ताल कहा है–

तालः कालजनिः प्रोक्तः सोऽवच्छिन्नो द्रुतादिभिः गीतादितानकर्ताः।।[3]

पं0 दामोदर ने ताल को स्पष्ट करते हुए वर्णन किया है कि ताल यश तथा मोक्ष को प्रदान करने वाला शिव और शक्ति पार्वती का पुण्य स्वरूप है।–

शिवशक्त्यात्मकं पुण्य यशस्यं भुक्ति मुक्तिदम्।[4]

संगीत दर्पण में पं0 दामोदर द्वारा कहा है–

दशप्राण परितान प्रवीण स्तालधारकः।
नृत्यादिषु प्रशस्तः स्यदितरस्तु मृतोपमः।।[5]

---

(1) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–628 / पृ0–110
(2) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–629 / पृ0–110
(3) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–634 / पृ0–110
(4) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–635 / पृ0–111
(5) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–636 / पृ0–111

अर्थात्– दस प्राण का सम्पूर्ण ज्ञान में निपुर्ण व्यक्ति, जो ताल को समझने वाला होता है वही नृत्य आदि में श्रेष्ठ होता है। अतः जो मनुष्य ताल को जानने वाला नहीं है, वह उस इन्सान का जीनव गायन, वादन तथा नृत्य के अभाव में मृतक के समान है।

संगीत दपर्ण में पं0 दामोदर जी ने ताल को शिव तथा पार्वती से उसकी उत्पत्ति कही है–

तकारे शंकरः प्रोक्तो लकारे पार्वतीस्मृता।
शिवशक्तिसमायोगातालइत्याभिधीयते।।[1]

अर्थात्– ता से तकार में शिव तथा ल से लकार से पार्वती **अर्थात्** शिव व शक्ति के संयोग द्वारा ताल की निष्पत्ति हुयी है।

17वीं शताब्दी के ग्रन्थ संगीत पारिजात में पं0 अहोबल ने जगत का हरण करने वाला काल रूप को ताल कहा है।

अथ ताल प्रवक्ष्यामि कालरूपं जगदृश्म्।
जनयतं सुखं गीते वाद्ये नृत्ये विशेषतः।।

उत्पत्यादित्रयं लोके येन तालेन जायते।
कीटकादिपशुनां च तालेनैव गतिर्भवेत।।

यानि कानि च कर्माणि लोके तालश्रितानि च।
आदित्यादिग्रहाणां च तालेनैव गतिर्भवेत।।

ब्रह्मकल्पेऽपि तालेन यतः कालवंश गतः।
कालः क्रिया परिच्छित्रतालशब्देन भण्यते।।
यतः प्रतिष्ठतं सर्व ताले काले इति स्मृताः।।[2]

अर्थात्– संसार का हरण करने वाला जो कालरूप है, उस कालरूप का अथ है, जो अपने में सबको धारण कर लेता है अर्थात् संगीत में जो गायन, वादन तथा नृत्य को अपने ऊपर धारण करता है, वह ताल है। गीतादि में सुख की निष्पत्ति ताल के माध्यम से ही होती है। संसार का उद्भव उसकी अवस्था तथा उसकी गति सभी ताल से ही होती है। संसार से समस्त जीव तथा घटक लय आधारित है। जिनका ताल मुख्य कारक है, व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड़ में व्याप्त लय भी ताल आश्रित है। ब्रह्म काल युग भी ताल के अनुसार ही निष्पण होते है।

(1) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–637 / पृ0–111
(2) पं0 अहोबल / संगीत पारिजात / वाद्याध्याय / श्लोक–1–5 / पृ0– 99,100

काल का क्रिया रूप(निशब्द तथा सशब्द) ही तान कहा जाता है, सम्पूर्ण संसार का जो काल खण्ड़ है, उसका आधार ताल के अनुसार ही निर्धारित है।

अपराजितपृच्छा– यह ग्रन्थ 12वीं सदी के उत्तरार्ध में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला के साथ–साथ संगीत कला का भी एक सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसका सम्पादन बड़ौदा के महाराजा सायाजीराव गयकवाड़ द्वारा प्राच्य विद्यामन्दिर के अर्न्तगत 1950 में दो पाण्डुलिपि के आधार पर किया गया। इस ग्रन्थ के अर्न्तगत विश्वकर्मा से अपराजित नामक शिल्पी द्वारा पूछे गये प्रश्न तथा विश्वकर्मा द्वारा उनके उत्तर के रूप में विषय निरूपण किया है। इस ग्रन्थ में विश्वकर्मा द्वारा ताल की महत्वता का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

यतः प्रवर्तते वादयं रथे वै पाथिका यथा।
समस्तं वै तालवाद्यं तालहीनं न विद्यते।।

तालहीनं तथा वाद्यं चक्षुर्हीनों यथा नरः।
करहीन यथा शक्तिर्बिना मन्त्रैश्च राज्यकम्।।

तालहीनं तथा वाद्यमावासों दीपकैबिना।
ताल आद्यः समस्तेषु रूपके नृत्यशासने।[1]

अर्थात्– ऐसा कोई संगीत वाद्य नहीं है, जिसमें ताल न हो। ताल वाद्य में ताल का स्वरूप उसी प्रकार है, जैसे किसी रथ में कोई राहगीर अर्थात् रथ का वर्णन ताल के रूप में और राहगीर का तात्पर्य वाद्य से है, जो उसे उसके गन्तव्य तक पहुँचाता है। ताल के अभाव में वाद्य की वही स्थिति है, जैसे एक मनुष्य आँखों के बिना अंधकार पूर्ण जीवन, शक्ति के बिना बाहु(हाथ) जो एक विकलंग की भाँति प्रतीत होता है तथा राज्य जो मंत्री विहीन हो और वह एक जंगल के समान प्रतीत होता है तथा रौशनी के बिना एक भवन खंण्डहर दिखायी देता है। इसी प्रकार से ताल के बिना वाद्य की अवस्था होती है। सम्पूर्ण रूपकों(नाटकों) तथा नृत्य में ताल को प्रमुख तथा आद्य माना है।

ताल शब्द की उत्पत्ति में इस प्रकार के कई लक्षण प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थों में जो ताल के विषय में प्राप्त होते है। जितने भी तथ्यों को आधार यहाँ लिया गया है उनके विचारों में भिन्नता नहीं है। ता, धित, थू, ना, आदि शब्दों के आधार पर प्राचीन ग्रन्थों में काल गति को छन्द या पदों में विभक्त कर जो प्रयोग किया जाता है, वह ताल कहलाता है। उसी प्रकार

---

(1) आचार्य भूवनदेव / अपराजित–अपराजितपृच्छा / तालवादित्रलक्षणः / सूत्र–237

मध्यकालीन संगीत शास्त्री,यों ने भी ताल शब्द की व्युत्पत्ति 'त' तथा 'ल' शब्द के योग से शिव और पार्वती के मूर्त रूप को माना है। प्राचीन तथा मध्यकालीन संगीत शास्त्री,यों के द्वारा जो ताल की उत्पत्ति के विषय में उल्लेख किया गया है जो प्राचीन आचार्यों की ताल के विषय में जो धारण है, वही धारणा या दृष्टिकोण वर्तमान में भी मानने योग्य या प्रार्थनीय है।

4:1 विभिन्न अध्यायों में वर्णित ताल की वर्तमान उपयोगिता

इससे पूर्व के अध्याय में जिन अध्यायो में ताल सम्बन्धित तथ्य प्राप्त हुए है उनका वर्णन किया गया तथा इस अध्याय के अन्तर्गत उन्हीं अध्यायों की वर्तमान उपयोगिता को वर्णित किया गया है जो भरत मुनि द्वारा निदृष्ट ताल संबंधित विधान को प्रस्तुत करते हुए है, वह जो कि इस प्रकार है–

4:1:1 मंगलाचरण

नाट्यशास्त्र में वर्णित मंगलाचरण प्रथम अध्याय है। जिसके अर्न्तगत ताल तथा ताल वाद्य के वादन के लिए वर्णन किया गया है, कि ब्रह्माजी ने स्वाती मुनि को उनके शिष्यों के साथ अवनद्ध वाद्यों के वादन के लिए नियुक्त किया गया तथा नारद मुनि तथा गन्धर्वों आदि को गायन के लिए नियुक्त किया गया है। इसी प्रकार वर्तमान समय में भी नाट्य उत्पन्न होने के पूर्व उसके मंगलाचरण के समय अवनद्ध वाद्यों पर ताल नियुक्त किया जाता है तथा गायक गायिकाओं द्वारा गायन किया जाता है।

4:1:2 प्रेक्षगृह के लक्षण

प्रस्तुत अध्याय में प्रक्षेगृह के लक्षण में नाट्यगृह के निर्माण के बारे में बतलाया है तथा उसके आकार का वर्णन किया गया है। विश्वकर्मा ने नाट्यगृह के विषय पर विचार करते हुए उसे शास्त्र के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया है जो इस प्रकार है–1) विकृष्ट 2) चतुरस्त्र 3)त्र्यस्त्र तथा इनको मापन क्रिया भी तीन तरह से कही है, ज्येष्ठ, मध्य तथा अवर। इन सब में मध्य नाट्यगृह को सबसे श्रेष्ठ माना है। नाट्यशास्त्र के जो माप तौल का प्रमाण कहा है, वही प्रमाण प्राचीनकाल में भी प्रचलित था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नाट्यगृह के माप तौल का इसी प्रकार प्रमाण प्राप्त होता है।[1]

---

(1) आचार्य कौटिल्य / द्रष्टव्य अर्थशास्त्र / अध्याय–2 / श्लोक–10

पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी यही प्रमाण कहा गया है।[(1)] प्राचीन काल से ही वास्तुशास्त्र तथा स्थापत्य सम्बन्धित साहित्य की बहुलता रही है। विश्वकर्मा को स्थापत्य आदि के द्वितीय आद्य प्रवर्तक कहा गया है। इनके अतिरिक्त मयासुर नामक विद्वान का भी नाम प्राप्त होता है। संस्कृत भाषा के एक सर्वोच्च व वास्तु ग्रन्थ के रूप में वास्तुसार नाम ग्रन्थ का वर्णन प्राप्त होता है। जिसमें नाट्यगृह सम्बधिंत वर्णन नाट्यशास्त्र के समान ही प्राप्त होता है। मानसार वास्तुसार में सूत निर्माण की जो निधि प्राप्त होती, वही नाट्यशास्त्र में प्राप्त होती है। सूत को सर्वप्रथम चूने में डुबोकर भूमि पर माप क्रिया करके निशान लगाये जाते है। इसके पश्चात् वहाँ नींव की खुदाई के कार्य को किया जाता है। यही प्रक्रिया वर्तमान में भी समान रूप से की जाती है।[(2)]

इस प्रकार के नाट्यगृह की विधि पूवर्क भूमि के भागों को विभाजित कर उसमें आधारशिला स्थापना हेतु शुभ नक्षत्र में शंख दुंदुभि आदि मंगल वाद्यों के साथ–साथ मृदंग, पणव का वृन्दवादन किया जाता है तथा नाट्यगृह की आधारशिला स्थापित की जाती है। उसी प्रकार आज भी नाट्यगृह की स्थापना शास्त्र आधारित की जाती है।

4:1:3 रंग देवताओं की पूजा

यह नाट्यशास्त्र का तृतीय अध्याय है, जिसके अर्न्तगत मंच पर प्रस्तुती के पूर्व होने वाले पूजा के विधान को कहा है। मंच प्रस्तुती के पूर्व होने वाले सभी विधान जो नाट्यशास्त्र में वर्णित है, वह आज भी शास्त्रानुसार प्रस्तुती के पूर्व सम्पन्न किए जाते है, जिसके बाद नाट्य का श्री गणेश होता है।

इसके पूर्व के अध्याय में शोधार्थी द्वारा अपने शोध के विषय को ध्यान में रखते हुए नाट्यशास्त्र के तृतीय अध्याय में श्लोकों को वर्णित किया गया है कि जिससे यह ज्ञात होता है कि वह सभी रीतियाँ वर्तमान में भी सम्पन्न की जाती है। उस समय भी वाद्यों का पूजन धूप, पुष्प आदि से किया जाता था, उसी तरह आज भी यह पूजा की जाती है। जिसके बाद अवनद्ध वाद्यों का वादन किया जाता है। नाद घोष के बाद सभी कार्यों को सम्पन्न करने की प्रक्रिया आरम्भ होती है।

---

(1) अग्रवाल, वासुदेवशारण / पाणिनिकालीन अष्टाध्यायी भारतवर्ष / अध्याय–4 / श्लोक–86
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–2 / श्लोक–40–41

4:1:4 अमृतमंथन

अमृतमंथन नाट्यशास्त्र का चौथा अध्याय है, जिसमें अमृतमंथन नामक नाट्य का मंचन देवताओं के समक्ष प्रस्तुत किया गया था जो देवताओं को अतिप्रिय है। नाट्य में ताल को पैरों के द्वारा दर्शाया जाता है, तथा इस अध्याय में कुतुप शब्द का भी प्रयोग किया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ कुप्पी से है अर्थात् कुप्पी के समान बंद प्रकार का वाद्य व कुतुप को वृन्द भी कहा गया है। जिसमें सभी प्रकार के वाद्यों का वादन किया जाता है। मंच पर नाट्य प्रस्तुती के समय विभिन्न प्रकार के वाद्यों को स्वर तथा ताल के प्रयोजन से बजाया जाता है, जिससे नाट्य का प्रस्तुतीकरण सफलतापूर्वक ढ़ंग से सम्भव हो सके। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत ताल सम्बन्धित तथ्यों की प्राप्ति होती है और आज भी यह सभी तत्व नाट्य की सफलता हेतु अनिवार्य है। आज भी नाट्य में वृन्द वादन तथा उसके पात्रों के मध्य होने वाले भावों को प्रकट करने हेतु ताल की अहम भूमिका है तथा आज भी जब नृत्य प्रस्तुती होती है, तब सर्वप्रथम वाद्य का वादन होता है। उसके पश्चात् नृर्तक एंव नृर्तकी मंच पर प्रवेश करते है, उसे कथक नृत्य में अमद या उठान कहते है और भरतनाट्यम नृत्य में पुष्पांजलि भी सर्वप्रथम नेज़ प्राप्ति अर्थात् वाद्यों का सहाचार्य और तत्पश्चात् पुष्पांजलि से नृत्य का प्रस्तुती का प्रारम्भ होता है अर्थात् ताल वाद्य और ताल का बड़ा महत्व है।

4:1:5 पूर्वरंग विधान

पूर्वरंग विधान नाट्यशास्त्र का पाँचवां अध्याय है, जिसमें नाट्य अवतरण के पूर्व के विधान का वर्णन है। प्रस्तुत अध्याय में नारद आदि मुनियों द्वारा देव तथा दानवों के समक्ष लय तथा ताल युक्त संगीत को प्रस्तुत होने की बात कही गयी है, जिससें ज्ञात होता है कि भरत मुनि के काल के समान ही आज भी सभागार में लय तथा ताल से परिपूर्ण संगीत को प्रस्तुत किया जाता है। तथा ताल की व्यवस्था को वर्णित किया गया है।

4:1:6 चारीविधान

भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र का ग्यारवाँ अध्याय चारीविधान है। चारी का अर्थ है कि कटि, पर्श्व, ऊरू, जंघा तथा पाद एक साथ होने वाले कार्यों जिनके द्वारा इच्छाएँ प्रकट होती है, चारी का अभिनय में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है कि नाट्य में बिना मस्तक, हस्त आदि सभी अंगों का चलन नहीं होता, नृत्य में पद संचालन की क्रिया को चारी कहा गया है। भरत मुनि

ने कहा है कि चारियों से ही नृत्य का संचालन होता है तथा चारियों द्वारा ही शस्त्रों का चलना भी सम्पन्न होता है। नाट्यशास्त्र में चारी के मुख्य दो प्रकार बताए है– भौमीचारी और आकाशिकीचारी। इनमें दोंनों चीरयों के 16–16 प्रकार कहे है जिसके कुल भेद बत्तीस होते है। इन चारियों के प्रयोग के समय नाट्य या नृत्य के समय हाथ तथा पैरों का जिस प्रकार संचालन किया जाता है। उसके एक साथ प्रयोग करने को अधिक महत्वपूर्ण बताया है तथा विभिन्न प्रकार के अभिनयों के प्रस्तुतीकरण में चारी तथा हस्त आदि के समय शरीर की एक निश्चित तथा विशिष्ट मुद्रा होती होती है। इस मुद्रा को स्थान कहा है, अभिनव गुप्त द्वारा इस स्थान को विशिष्ट स्थिति कि संज्ञा दी है। भरत मुनि द्वारा स्थान के छः प्रकार बताए गए है– 1.वैष्णव 2.समपाद 3.वैशाख 4.मण्ड़ल 5.आलीढ़ 6.प्रत्यालीढ़। इन छः स्थानों की खड़े होने की मुद्रा को चारीविधान में ताल के रूप में वर्णित किया गया है। प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत ताल शब्द का प्रयोग खड़े होने की मुद्रा को ताल कहा है तथा ताल शब्द का प्रयोग माप के रूप में वर्णित किया गया है।

आज भी चारी का स्थान सस्कृत एंव शास्त्री,य नाटको में होता है। जिनमें नाट्य प्रयोग में चारी को नाट्यशास्त्र के अनुसार किया जाता है। नायक, नायिका व अन्य पात्रों का पद संचालन किस गति में हो व उसका संवाद पात्र के अनुसार निश्चित किया जाता है। यह एक प्रकार की लयबद्धता के साथ ताल योग है। यानि कि सिर्फ संगीत में ताल का प्रयोग नहीं किया जाता बल्कि नाट्य में भी ताल का प्रयोग नियमानुसार किया जाता है। आज भी ताल द्वारा पद संचालन की प्रक्रिया नाट्य प्रयोगों में होती है जिसका उदाहरण चलचित्रों में भी प्राप्त होता है। जैसे कि शोले फिल्म में बसंती खलनायक से बचने के लिए तांगें को जिस तरह से चलाती है यहाँ घोडे की गति के संदर्भ में एक लय (गति का प्रचार) दिखई देती है उसी लय के अनुरूप उस दृश्य में पं0 सामता प्रसाद जी ने तबला वादन किया है। यदि इस दृश्य में संगीत ताल नियोजन नहीं होता तो दृश्य की सजीवता नहीं दिखायी देती और यह दृश्य इतना मनोहर व चर्चित न होता। उस दृश्य का सौंदर्य तबला वादन से है। यही ताल का सौन्दर्य नाट्य में प्रयोग होता है। इसका वर्णन नाट्यशास्त्र में पात्रों की गति व उनकी चाल के संदर्भ में वर्णित है। शोधार्थी मानना है कि संगीत के हर तत्व में निहित है जिसका प्रयोग हर एक कार्य में होता है यदि नृत्य के संदर्भ में देखा जाए चारी जो नाट्यशास्त्र में वर्णित है उसका प्रयोग भी आज कई रूपों में हो रहा है नृत्य में कथक में इसे तत्कार या

पादक्रम कहा जाता है व भरतनाट्यम् में इसे चारी ही कहा जाता है। तथा इस प्रकार नृत्य भी ताल के अधीन ही है। वर्तमान परिपेक्ष्य में भी ताल शास्त्र को निभाते हुए पारम्पारिक रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

4:1:7 गतिप्रचार

नृत्य तथा नाट्य में गतियों का महत्वपूर्ण स्थान है। मानव के मानसिक एवं शारीरिक निर्माण के सभी साधनों में गति अर्थात् चाल का सबसे प्रभावित करने वाला मौलिक स्थान है। भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र का 13वाँ अध्याय गतिप्रचार का निरूपण है। इस अध्याय के अर्न्तगत भरत मुनि द्वारा नाटक के अलग–अलग पात्रों की गति(चाल) का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। इस अध्याय में भरत मुनि द्वारा नाट्यप्रयोग के प्रारम्भ में जब ध्रुवाओं के गान के समय पात्रों द्वारा प्रवेश किया जाता है। उस समय की गति से लेकर देंवों, राजाओं तथा मध्यवर्ग के स्त्री–पुरूषों से लेकर निम्न वर्ग के लोगों की गति में लगने वाले समय का वर्णन किया है। इयके अतिरिक्त रौद्र, विभत्स, वीर आदि रसों को अभिनीत करते समय की कलापूर्ण शारीरिक मुद्रा का वर्णन प्राप्त है। उसके साथ ही शीतार्त, योगी, मदमत और उन्मद पात्रों के चलन के प्रकार और गतियों के द्वारा अभिनय करने का वर्णन प्राप्त होता है गति को निबद्ध करने के लिए भरत मुनि द्वारा इसे ''पादयोरन्तरक'' अर्थात् पैरों के अन्तर से दर्शाया गया है, जिसको ताल कहा है। यहाँ ताल फैलायी गयी, अंगुलियों और अंगूठें के बीच का अन्तर या लम्बाई का कहा है। जिसे बालिश्त की संज्ञा दी है। इस गति की अवस्था में पैरों को पृथ्वी पर रखने की दूरी को चार, दो तथा एक काल का माना है। इसमें उत्तम पात्रों की चार ताल, मध्य पात्रों की दो ताल और अधम पात्रों की एक ताल का नियोजन किया है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में अभिनय तथा नृत्य की गतियों में ताल शब्द का प्रयोग होता है।

4:1:8 कक्ष्या, परिधि तथा लोकधर्मी निरुपण

नाट्यशास्त्र का यह चौदहवां अध्याय रंग–मंच की परिधि में होने वाली गति–विधि के विधान को कहता है। इस शोधप्रबंध के पूर्व के अध्याय में सम्बन्धित अध्याय के तत्वों रखा गया है। जिसके अध्ययन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि मंच की परिधि को व्यवस्थित करने के कुछ निश्चित नियम है। उन्हीं निश्चित नियम के अनुसार वर्तमान में भी मंच की व्यवस्था की जाती है। यदि वाद्यों के संदर्भ में देखा जाए तो वाद्यों को भी नियम अनुसार स्थापित किया

जाता है। जिसमें अवनद्ध वाद्यों का मुख्य स्थान होता था व ताल वाद्य की महत्वता वर्तमान में भी है क्योंकि प्रत्येक संवाद के भावों को प्रकट करने तथा पात्र के अगमन व प्रस्थान में ताल वाद्यों की सर्वाधिक महत्वता को स्वीकारा जाता है। इस प्रकार ताल की महत्वता को वर्तमान में सिद्ध करता है।

4:1:9 अवनद्धातोद्यविधानाध्याय

अवनद्धतोद्य विधान नाट्यशास्त्र में वर्णित तैतिसवाँ अध्याय है, जिसमें मृदंग आदि अवनद्ध वाद्यों का वर्णन प्राप्त होता है। इस अध्याय के अर्न्तगत स्वति मुनि और नारद मुनि को अवनद्ध वाद्य के अविष्कारक के रूप में वर्णन किया गया है। नाट्यशास्त्र में वर्णित अवनद्ध वाद्यों के बारे में भली—भांति जानने से पहले अवनद्ध वाद्यों कि विशिष्टता तथा उसकी बनावट पर प्रकाश ड़ालना आवश्यक होगा। अवनद्ध वाद्य वह वाद्य होता है, जिनका मुख चमड़े से मढ़ा हुआ होता और भीतर से पोले(खोखले) होते है तथा उनमें ध्वनि की उत्पत्ति हाथ या किसी वस्तु के द्वारा आघात करके की जाती है, अवनद्ध या आनद्ध कहे जाते है।

भरत मुनि ने अवनद्ध वाद्यों में समाविष्ट मुख्य रूप में पुष्कर वाद्यों का उल्लेख किया है। महर्षि भरत ने नाट्यशास्त्र में अवनद्ध वाद्यों की संख्या सौ बतायी है। जिसे भरत मुनि ने दो भागों में विभक्त किया अंग तथा प्रत्यंग। इन सभी अवनद्ध वाद्यों का वर्णन पूर्व के अध्याय में किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में शोधार्थी द्वारा उनके वर्तमान स्वरूप तथा उनके लक्षणों का वर्णन किया जाएगा। नाट्यशास्त्र में अवनद्ध वाद्यों की वादन क्रिया का उल्लेख किया गया है। इस संदर्भ में इन वाद्यों की वर्तमान स्थिति प्रयोग विधि परम्परा को देखा जाए तो, कई ऐसे तथ्य शोधार्थी को प्राप्त होते है। जिनमें कहा जा सकता है, कि भरत मुनि द्वारा निदृष्ट विधान वर्तमान में सार्थक सिद्ध होते है।

इस प्रकार वर्तमान संगीत में मुख्य रूप से तीन प्रकार के अवनद्ध वाद्य प्रचार—प्रसार में है। मृदंग, पखावज तथा तबला इन तीनों प्रकार के वाद्यों की वादन विधि और स्वरूप को देखते हुए कहा जा सकता है, कि यह वाद्य भरत निदृष्ट पुष्कर वाद्य का ही विकसित रूप है, क्योंकि पुष्कर वाद्य को पोष्कर भी कहा जाता है, फिर इसी शब्द द्वारा ताल वाद्य ''पखावज'' भी इसी नाम से प्रचलित हुआ। डॉ0 शरतचन्द्र श्रीधर परांजपे के मतानुसार इस शब्द का निर्माण इस प्रकार कहा जा सकता है। पुष्कर, पक्षवाद्य, पखावुज, पखावजै और उत्तर भारत

संगीत में दूसरा अवनद्ध वाद्य तबला प्रचलित है।[1] जिसकी उत्पत्ति में अमीर खुसरों का नाम आता है, परन्तु नवीन मतों को ध्यान में रखते हुए, अगर इस पर विचार किया जाए तो यह तथ्य सामने आता है कि तबला वाद्य भरत प्रोक्त पुष्कर और मृदंग का विकसित या परिवर्धित रूप है, चूँकि मध्यकाल में तबले पर मृदंग के बोलों को खुले हाथों द्वारा बजाने का नियम था, शनै–शनै तबले पर बन्द बोलों को बजाने का नियम प्रचतिल हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप तबले का एक अलग अस्तित्व बना मध्यकाल में तबले पर भी मृदंग की ही तरह उसके बाएँ मुख पर स्याही की जगह आटा लगाया जाता था।

जिस कारण भी उसमें खुले हाथों से वादन होता था। कहा जा सकता है कि मानव की अपने मस्तिष्क की गतिशील क्षमता तथा नयी खोजों के परिणाम स्वरूप संगीत में समय–समय पर नए वाद्यों का जन्म और विकास हुआ, परन्तु इन सबका आधार भरत मुनि द्वारा वर्णित आतोद्य ही है। जिसके कई तथ्य सामने आते है। दक्षिण भारत में संगीत में अवनद्ध वाद्यों में आज भी मृदंगम् प्रचलित है।

उसी तरह से भरत निदृष्ट अवनद्ध वाद्य में अन्य भाग आलिंग, आंकिक तथा ऊर्ध्वक आदि का वर्तमान में भी प्रचलन है, जैसे मणिपुर नृत्य में जिस ताल वाद्य को उस समय गले में लटकाकर जिस पर वादन किया जाता है। उस वाद्य को भरत मुनि द्वारा वर्णित आलिंगय वाद्य का रूप कहा जा सकता है। वर्तमान संगीत में ताल वाद्यों का आधार भरत मुनि द्वारा वर्णित अवनद्ध वाद्य पुष्कर वाद्य ही है, क्योंकि इन सभी वाद्यों का आकार–प्रकार भी भरत मुनि निदृष्ट हरितकी, यवाक्रिति की तरह ही देखा जाता है। हालांकि थोड़ा बदलाव जरूर आया है, जो इन वाद्यों के विकास का द्योतक है।भरत मुनि निदृष्ट पुष्कर वाद्यों के वादन हेतु तीन प्रकार कहे है, 1) वर्ण अनुसार 2) स्वर अनुसार तथा 3) ताल अनुसार। इन तीनों प्रकारों को देखते हुए, भरत मुनि ने त्रिपुष्कर वाद्यों के वादन के लिए पंद्रह नियम कहे है। जो इस प्रकार है–

4:1:9:1 षोड़ष अक्षर(सोलह अक्षर)– भरत मुनि ने अवनद्ध वाद्य के वादन के लिए सोलह अक्षरों का वर्णन किया है– क, ख, ग, घ, ट, ठ, ढ़, ण, त, थ, द, ध, म, र, ल, ह।[2] वर्तमान

(1) परांजपे, श्रीधर शरतचन्द्र / संगीत वाद्य / पृष्ठ–84
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अयाय–33 / श्लोक–40

संगीत में अवनद्ध वाद्य के वादन के लिए ग्यारह अक्षरों का ही उपयोग होता है, जो क, घ, ग, ट, ड, त, द, ध, न, र थे। जब इन अक्षरों का प्रयोग बोल रचना हेतु किया जाता है, तत्पश्चात् इनमें अ, आ, इ, ई आदि स्वरों का योग किया जाता है। जैसे–

क– कि, के, का
ग– गे, गि, गा
ट– ट, टे
घ– घि, घे
त– ति, त, ता, तत(डबल का तीन प्रयोग में जैसे तबले में कत है तो क और त के मिश्रण से कत बनता है।)
ध– धा, धी, धिं,
न– ना

दोनों के मिश्रण बोल भी जैसे ना और घे को मिलाकर धा बनाया जाता है। स्वर, ताल तथा पद से युक्त गान्धर्व में जिन तत्वों का प्रयोग भरत मुनि निदृष्ट किया गया है वे आज भी उसी प्रकार है। इसमें किसी भी प्रकार का संदेह को स्थान नहीं दिया जा सकता। काल के परिवर्तन व अन्य संस्कृतियों के प्रभाव व आगमन से नामों को अवश्य ही परिवर्तन हुआ हो परन्तु उनके प्रयोग व स्वरूप तथा लक्षण वर्तमान में भी भरत निदृष्ट ही है।

जिन बोलों का वादन 'भरत' काल में पुष्कर वाद्य पर किया जाता था, उन्हें 'वाष्पकरण' कहा जाता था, जो आज संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है ''बोल''। इस प्रकार देखा जाए, जो प्राचीन काल से वर्तमान समय तक इन बोलों में कई बार परिवर्तन आ चुका है। भरत मुनि निदृष्ट त्रिपुष्कर(मृदंग) के पटाक्षरों को प्रमुख माना है। इसके अलावा नाट्यशास्त्र में पणव तथा पटह के भी अक्षरों या वर्णों का वर्णन भरत मुनि ने कहा है। मध्य युग में मृदंग और पटह के वर्णों का प्रमुख माना जाता था, तथा वर्तमान समय में तबलें और मृदंग के वर्णों को प्रमुख कहा गया है।

<u>प्राचीन युग में अवनद्ध वाद्य के बोल</u>

1) मटकठत घिघघट घेघधोत मंधि घंघन धिधि।

2) घडः गुटुमघे दोधिंघ दुघि दुघेंधि।

3) किंकाकिटु भेटकिंता किंकेकितांद तसिता गुटुग।

4) मट्टि कुट घेघेमत्थिद्धिध खुरवुणं धे धोटात्थिमत।

<u>मध्यकालीन बोल</u>

1) ननगिड गिडदागे
2) ननग्डिदि
3) नखुं नखुं
4) ख च ट कि ट।
5) घिटक घिटक
6) थों गि णि। थों थां गि।
7) थिरकि थों
8) नगि झे नगि झें।। आदि

<u>वर्तमान मृदंग में बजाने वाले बोल</u>

1) धुमकिट धुमकिट तकिटत काकिट

2) धुमकिट तकधुम किटतक गदिगन

3) किटतक गदिगन, धाSSS देत् देत्।

वर्तमान तबले में बजाए जाने वाले त्रिपुष्कर के दक्षिण तथा वाम मुख कि तरह दो भाग है, जिन्हें दायाँ या बायाँ कहा जाता है कि इनमें बजनें वाले वर्णों कि संख्या(10) दस है। जो इस प्रकार है।

1) दाएं मुख पर बजाए जाने वाले वर्ण अर्थात् दाएं तबले के वर्ण–1.ता या ना, 2.तिं, 3.ती 4. तक, 5.ट, 6.दिं।

2) बाएं तबले के वर्ण, इनकी संख्या दो है– 1) गे या घे 2) क या कत।

दोनों तबले पर एक साथ बजने वाले वर्ण

धा–घे तथा ता को एक साथ तबले पर आघाते करने से यह वर्ण निकलता है। उसी तरह 'धिं' 'ती' तथा 'घे' को एक साथ बजाने से उत्पन्न होता है। ऐसे ही तबले पर इस दस वर्णों के मिश्रण से तबले के बोल बनते है, जिसे भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में ''वाष्पकरण'' शब्द से बताया है।

4:1:9:2 चार मार्ग– भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में त्रिपुष्कर मृदंग के, अंकिक, उर्ध्वक और आलिंग्य के वादन विधि तथा उनके प्रयोग और उसमें उनके अलग–अलग मुखों पर निकाले जाने पर बोलों के चार नियम कहे है, जिन्हें नाट्यशास्त्र में चार मार्ग कहा है। वर्तमान समय में यह चार मार्ग तो नहीं है परन्तु कुछ रूप में आज भी इनका प्रयोग होता है। नाट्यशास्त्र में चार मार्ग से अभिप्राय पुष्कर वाद्य के अलग–अलग भागों में अंकिक, उर्ध्वक और आलिंग्य। इन तीनों भागों में किस प्रकार के बोलों का वादन हो यह मार्ग के अन्तर्गत आता है। वर्तमान समय में वाद्यों का वह स्वरूप तो प्राप्त नहीं होता, परन्तु आज भी कुछ सिद्धान्त है, जिस

प्रकार से आज मृदंग, तबला आदि में वर्णों का अलग–अलग वादन किया जाता, कुछ नियमों में मार्ग का अर्थ है। ताल वाद्य विभिन्न शैली या रीति में वादन विधि जिसे आज हम वर्तमान संगीत में **'बाज'** कहते है। नाट्यशास्त्र में वर्णित जिन चार मार्गों में बजने वाले बोलों का भरत मुनि द्वारा विवरण दिया गया है। उसको ध्यान से देखा जाए तो यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उस समय जो बोल मृदंग पर बजाए जाते थे। वह बोल वर्तमान ताल वाद्य के वर्णों के पूर्व रूप है लेकिन कुछ विविधता के साथ वर्तमान अवनद्ध वाद्यों में **घा, कत, धुमकिट, गदिगन, तेटे, क आदि** ऐसे बोलों के प्रचलित रूप है। अतः कहा जा सकता है कि आज अवनद्ध वाद्यों के अनेक बोल भरत कृत नाट्यशास्त्र की ही देने है।

4:1:9:3 विलेनप– भरत मुनि निदृष्ट आकिंक तथा उर्ध्वक के मुख पर अपनी इच्छा अनुसार स्वर उत्पन्न करने हेतु, उसमें आवश्यकता को देखते हुए, उसमें लेपन किया जाता था। यह लेपन मिट्टी से किया जाता था या फिर मिट्टी आवश्यकतानुसार न मिले तो गेहुँ तथा जौ के आटे तथा दोनों को एक साथ मिश्रित करके लेपन किया जाता था। वर्तमान समय में मिट्टी के स्थान पर लोहे का चूर्ण, कोयले का चूर्ण या फिर सरेस का उपयोग किया जाता है। पखावज के बाएं मुख पर आज भी आटा लगाया जाता है।

4:1:9:4 षटकरण– अंग वाद्यों के साथ प्रत्यंग वाद्यों का वादन किस प्रकार से किया जाए। उसके लिए नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने छः प्रकार के करण बताए है। वादक को इन्हीं छः करणों का पालन करते हुए वादन करना होता था। वर्तमान समय में दक्षिण संगीत में कुछ हद तक इसका प्रयोग होता है। परन्तु उत्तर भारतीय संगीत में करणों का इतना प्रयोग प्राप्त नहीं होता है परन्तु कभी–कभी ताल वाद्य कचहरी (Orchestra) में प्राप्त होता है। जिसके अर्न्तगत जो मुख्य वादक होते है, वह वादन करते है, अन्य वादक अपने वाद्यों पर मन्द्र आवाज में ठेका का वादन करते रहते है।

4:1:9:5 त्रियति– नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने यति का वर्णन करते हुए कहा है कि लय का प्रयोग कितने नियमों के साथ हो सकता है। उसे यति कहते है। यति के भरत मुनि द्वारा तीन प्रकार कहे गये है– 1. समा, 2. स्त्रोतोगता 3. गोपुच्छा। इन तीनों यतियों का प्रयोग वर्तमान तबला वादन, पखावज एंव मृदंगम् वादन में होता है। यतियों का प्रयोग इन वाद्यों

की बंदिशों में होता है। बंदिशों में यतियों का प्रयोग नाट्यशास्त्र में वर्णित है। इन यतियों को उदाहरण सहित इस प्रकार शोधार्थी द्वारा वर्णित किया गया है–

4:1:9:5:1 समायति– भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में समायति का उल्लेख करते हुए कहा है कि जब आदि से अन्त तक वर्णो, बालों तथा पदों की संख्या एक समान दिखती हो तो वह समायति समझनी चाहिए। वर्तमान समय में भी संगीत पद्धति में भी समायति को इसी प्रकार कहा की कब ताल या गीत की लय एक समान चलती हो तो उसे समायति कहा जाता है। वर्तमान समय में यतियों का अधिकतर प्रयोग अवनद्ध वाद्य की बंदिशों में देखने को मिलता है।

उदाहरण के रूप में उठान– चतुरस्त्र जाति समायति में लखनऊ घरानें की बंदिश–[1]

धेतधेत X	धिटधिट	धिटधिट	धिं–तिट
कतिटधा 2	–नधा–	तिटकता	गदिगन
धा–धा– 0	धा–न–	धा–तिट	धा–धा–
धा–न– 3	धा–तिट	धा–धा–	धा–न–

4:1:9:5:2 स्त्रोतागता यति नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने कहा है कि जब वाद्यों से उत्पन्न होने वाली ध्वनि के गति आगे की और बढ़ती हुयी चले अर्थात पहले द्रुत बीच मध्य तथा अंत विलम्बित पर समापत होती है तथा यह यति एक स्त्रोत के समान होती है जैसे स्त्रोत का प्रवाह पहले छोटा फिर बड़ा होता जाता है। उसी तरह से स्त्रोतोगता यति में मात्रा काल का काल क्रम कम से अधिक होता जाता है।

उदाहरण के रूप में तबले की एक बंदिश– त्रिपल्ली त्रयस्त व चतुरस्त्र जाति रचना–उ0 हा0 विलायत अली खाँ[2]

धगत्	तकिट	धागेति	टकिट
धागेदिं	–नाग	तिटक	ता–न

---

(1) भावसार, गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / उठान–16 / पृ0–7
(2) भावसार, गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / गत–28

तिटक	ता–न्	ताकेति	टकिट
धागेदिं	–नाग	तिटक	ता–न्
तकत	कतक	तिटक	ता–न
धागेदिं	–नाग	तिटक	ता–न
धगत्	तकिट	धागेति	टकिट
धागेदिं	–नाग	तिटक	ता–न
धगत्त	किटधागे	तिटतिट	धागेदिं–
नागतिट	कता–न	तिटतिका	–नधागे
तिटकिट	धागेदिं–	नागतिट	कता–न
तकतक	तकतिट	कता–न	धागेदिं–
नागतिट	कता–न	धगत्त	किटधागे
तिटकिट	धागेदिं–	नागतिट	कता–न
धगत्तकिट	धागेतिटकिट	धागेदि–नाग	तिटकता–न
तिटकता–न	ताकेतिटकिट	धागेदि–नाग	तिटकता–न
तकतकतक	तिटकता–न	धागेदि–नाग	तिटकता–न
धगत्तकिट	धागेतिटकित	धागेदि–नाग	तिटकता–न
धा			
X			

4:1:9:5:3 गोपुच्छा यति– भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में गोपुच्छा यति को इस प्रकार समझाा जा सकता है कि जैसे बड़ा ख्याल (विलम्बित लय) जिसके अर्न्तगत अक्षरों (वर्णो) के अत्याधिक खिचाव से दो वर्णो के मध्य विस्तार अधिक होने से शब्द अधिक स्पष्ट नहीं होते गीत शब्द प्रधान न हो कर स्वर प्रधान हो जाता है। वर्तमान संगीत में गोपुच्छा यति को स्त्रोतोगता के ठीक विपरीत कहा है कि प्रथम विलम्बित लय, फिर मध्यलय अन्त में द्रुत लय हो तो उसे गोपुच्छा यति समझना चाहिए। मात्रा काल के अनुसार पीले एक मात्रा काल में अधिक मात्राएं फिर उससे कत मात्राएं होती जाती है तो वह गोपुच्छा यति कही जाती है।

उदाहरण के रूप में वर्तमान समय की तबले की बंदिश के रूप में गोपुच्छा यति दर्शया गया है। चतुरस्त्र जाति फरूखाबाद घराना रचना उ. करमनतुल्लाह खाँ[(1)]

धिरधिर	कत्–धिर	धिरकत्–	धिरधिर
धिरधिरकिटतक	ता–तिरकिटतक	कत–धिरधिर	किटतकतकिट–ट
धा–	ति–	टक	–ता
गदि	गन	धा–	धिंना

(1) भावसार, गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / गत–84

धिंधि	नातिं	नाधिं	धिंना
धा–कऽ	धिंना	धा–कऽ	धिंना
धिंधि	नातिं	नाधिं	धिंना
धा			
X			

वर्तमान में जो त्रियतियों का प्रयोग नाट्यशास्त्र में बताया गया है, उसके अलावा और दो यति मृदंगा यति और पिपीलिका यति का प्रयोग भी आज के ताल वाद्य शास्त्रों में होता है।

4:1:9:5:4 मृदंगा यति– मृदंग के स्वरूप के सादृश्य इसकी लय का चलन देखने को मिलता है अर्थात् जिसका आरम्भ द्रुत लय में हो बीच में मध्य तथा अन्त में पुनः द्रुत लय हो उसे मृदंगा यति कहा जाता है।

उदाहरण में मृदंगा यति बंदिश– गत टुकड़ा फरूखाबाद घराना[1]

कत	धिंन	धिंन	धिंन
धा–गेगे	तकधिंन	धागेत्रक	तिंनाकता
गेना	कति	टका	तिट
धा–न	धिकिट	धात्रक	धिकिट
कड़धेत	धिकिट	दि–गन	ना—–
क–त्	धा—––	तिरकिटकत	ता—–
—–गे–	–न्त–	धा—–	धिरधिरकिटतक
धा–दिंन्	—–गे–	–न्त–	—–गे–
–न्त–	धा—––	धिरधिरकिटतक	धा–दिंन्
—–गे–	–न्त–	—–गे–	–न्त–
धा			
X			

4:1:9:5:5 पिपीलिका यति–यह यति चींटीं के आकार समान होती है जिसमें आदि तथा अन्त का भाग मध्य की अपेक्षा फैला होता है जिसको लय के अनुसार इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में विलम्बित बीच में द्रुत तथा अन्त में विलम्बित या फिर आदि तथा अन्त में मध्य व बीच में द्रुत लय होती है।

उदाहरण स्वरूप पिपीलिका यति में बंदिश दमदार टुकड़ा चतुरस्त्र जाति पिपिलिकायति फरूखाबाद घराना प्रो. सुधिरकुमार सकसेना जी[2] से प्राप्त

---

(1) भावसार, गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / गत–58
(2) भावसार, गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / गत–29

कततिट	तिटधागे	तिटकता	–नगिड़
नगधिन	गिनधागे	त्रकधिन	धिंनागेन
किड़नग	तिनकिन.	ताकेत्रक	तिनाकेन
धिनागिड़नग	धा–तिरगिड़नग	धा–तिरगिड़नग	धिरधिरगिड़नग
धातिधा–	तगे–न्त	धा–––	धिनागिनग
धा–तिरगिड़नग	धा–तिरगिनग	धिरधिरगिनग	धातिधा–
तगे–न्त	धा–––	धिनागिनग	धा–तिरधिनग
धा–तिरधिनग	धिरधिरगिनग	धातिधा	तगे–न्त
धा			
X			

4:1:9:6 त्रिलय– भरत निदृष्ट लय को बताते हुए कहा गया है कि निश्चित ठहराव या काल को लय कहा है। जो दो क्रियाओं के मध्य एक जैसी क्रिया स्थित करे या व्यवस्थित करे उससे लय उत्पन्न होती है। भरत मुनि ने लय के तीन प्रकार बताए है– द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। वर्तमान समय में भी इन तीनों प्रकारों की लयों का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन लय का क्रम इस प्रकार है–

द्रुत लय–

1 2 3 4 5 6 7 8

धा ↔ गे ↔ न ↔ ति ↔ न ↔ क ↔ धी ↔ ना

विराम काल

मध्य लय–

धा ↔ गे ↔ न ↔ ति ↔ न ↔ क ↔ धी ↔ ना

दुगना विराम काल

विलम्बित लय–

धा ↔ गे ↔ न ↔ ति

दुगनी–दुगनी विराम काल

न ↔ क ↔ धी ↔ ना

उपर्युक्त उदाहरण के पश्चात् शोधार्थी इस तथ्य को प्रस्तुत कर यह अवगत कराना चाहता है कि प्राचीन से वर्तमान में आते–आते लय का प्रयोग विपरीत क्रम में हो रहा है प्राचीन काल में जिस प्रकार लय का स्वरूप द्रुत, मध्य तथा विलम्बित था उसके विपरीत वर्तमान में लय का स्वरूप विलम्बित, मध्य तथा द्रुत हो गयी है परन्तु दोनों काल में मध्य लय के स्थान में कोई परिर्वतन नहीं हुआ है, मध्य लय को ही प्रमाण लय कहा गया है। वर्तमान में इसका स्वरूप क्रिया के आधार पर इस प्रकार है–

विलम्बितलय–

धिं ना	धिं धिं ना	तिं ना	धिं धिं ना
X	2	0	3

मध्यलय–

धिंना धिंधिं	नातिं नाधिं धिंना	धिंना धिंधिं	नतिं नाधिं धिंना
x	2	0	3

द्रुतलय–

धिंनाधिंधिं नतिंनाधिं	धिंनाधिंना धिंधिंनातिं नाधिंधिंना
x	2
धिंनाधिंधिं नतिंनाधिं	धिंनाधिंना धिंधिंनातिं नाधिंधिंना
0	3

4:1:9:7 त्रिपाणि– भरत मुनि ने पाणि को लय और यति के साथ जोडा है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में पाणि के तीन प्रकार बताए है– समपाणि, अर्धपाणि तथा उपरीपाणि। वर्तमान समय में भी पाणि का प्रयोग होता है परन्तु परिभाषिक शब्द में अन्तर है। आज इसे पाणि के स्थान पर ग्रह शब्द का प्रयोग होता है परन्तु दोनों का यथार्थ स्वरूप एक ही है। इस प्रकार से सम पाणि को सम ग्रह, अर्धपाणि को अतीत ग्रह और उपरीपाणि को अनागत ग्रह कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में वर्णित पाणि शब्द वर्तमान परिपेक्ष्य में ग्रह शब्द के रूप में जाना जाता है।

4:1:9:7:1 समपाणि सम ग्रह–वह बन्दिश, जो सम से सम तक आती हो वह सम ग्रह है।

सम ग्रह की बन्दिश–

धा धा	दिं दिं	नाना	तिटतिट	
कतिटक	तिटकत	धाऽकत	धाऽकत	
धाऽकत	तिटकत	धाऽकत	धाऽकत	
धाऽकत	तिटकत	धाऽकत	धाऽकत	धा
				X

4:1:9:7:2 अर्धपाणि अनागत ग्रह– जो बन्दिश सम आने से पूर्व ही समाप्त हो जाए वह अनागत है।

अनागत ग्रह(सम के पूर्व बंदिश का सम)

म म रे सा	– रे सासा ग	– रे म ग	प म ध प
प ल न ला	ऽ ग मोरी अ	– खि याँ ऽ	आ लि बि न
0	3 ↓	X	2
	(बंदिश का सम)		

4:1:9:7:3 उपरीपाणि अतीत ग्रह– जिसमें बन्दिश सम आने के बाद सम पर आए वह अतीत ग्रह है।

अतीत ग्रह (सम के पश्चात् बंदिश का सम)

म म रे सा	– रे सा सा	– ग रे मग	प म ध प
प ल न ला	ऽ ग मो री	– अ खि याँऽ	आ लि बि न
0	3	X ↓	2
		(बंदिश का सम)	

4:1:9:8 त्रिगति– गायन तथा वादन के अर्न्तगत किस प्रकार से पुष्कर वाद्यों का वादन किया जाए, वह गति के आता है। गति में तीन प्रकारों को वर्णित किया गया है। तत्व गति, अनुगत गति तथा ओघगति।

4:1:9:8:1 तत्व गति– वह है जिसमें वादक को अपने वादन में गायक के स्वर तथा साहित्य के अनुसार ही वादन करना होता है। जिससे गायक द्वारा गाए जाने वाले स्वरों का स्पष्टिकरण पूर्ण रूप से सम्भव हो सके। वर्तमान समय में इसे साथ संगत या यवाल–जवाब की संगति कह सकते है। जिस तरह से वर्तमान में गायक गायन करते समय तान प्रस्तुत करता है तो उसी के स्वरों के छंदों के अनुसार तबला वादक तबले बालों को तान के छंदों के अनुरूप प्रस्तुत करते हुए संगत करता है। यह नाट्यशास्त्र में वर्णित तत्व गति के समान कहा जा सकता है।

4:1:9:8:2 अनुगत गति के अर्न्तगत वादक को सम या आरम्भिक स्थान से संगत को किया जाना चाहिए, जिसे वर्तमान में सीधा ठेका कहा जाता है।

4:1:9:8:3 ओघ गति का प्रयोग द्रुत गति में होना माना जाता है, अर्थात् अनागत में इसका प्रयोग किया जाता है। वर्तमान में गायक तथा वादक से साथ संगत करते समय वादक किसी मुखड़े तथा तिहाई को उठाकर सम पर आता है।

अतः इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र में वर्णित गति का प्रयोग वर्तमान में प्रयोग किया जाता है।

4:1:9:9 त्रिप्रचार– नाट्यशास्त्र में हाथ के चलन को प्रचार कहा है अर्थात् हाथ द्वारा प्रहार की विधि को प्रचार कहा है। कि किस हाथ द्वारा अवनद्ध वाद्य के किस मुख पर प्रहार किया जाए उसे प्रचार कहा है। नाट्यशास्त्र में यह प्रचार तीन प्रकार के बताए गए है– 1.सम प्रचार 2.विषम प्रचार और 3.समविषम प्रचार।

4:1:9:9:1 समप्रचार– जब वादन करते हुए बाएं हाथ द्वारा वाद्य के बाएं मुख पर तथा दाएं हाथ द्वारा दाएं मुख पर एक साथ प्रहार करते हुए वादन किया जाए उसे सम प्रचार कहा जाता है। वर्तमान ताल शास्त्र के अनुसार तबला वादन करते समय तबले पर किसी ठेके का वादन किया जाता है वह सम प्रचार के अन्र्तगत आता है। जैसे–

धा	धिं	ना	धा	तिं	ना
X			0		

4:1:9:9:2 विषमप्रचार– दाएं हाथ से बाएं मुख पर वादन तथा बाएं हाथ से दक्षिण मुख पर वादन को विषम प्रचार कहा है। इसका प्रयोग वर्तमान में नहीं प्राप्त होता।

4:1:9:9:3 समविषम– यह प्रचार दोनों हाथों से एक ही मुख पर वादन या प्रहार करने को समविषम प्रचार कहा जाता है। वर्तमान में इसका प्रयोग अवनद्ध वाद्यों की बन्दिशों में देखने को मिलता है।

कतधिकिट	**कतगदिगन**	**धात्रकधितिट**	**कतगदिगन**
नगनगनग	**नगतिरकिट**	**धात्रकधितिट**	**कतगदिगन**

इस बन्दिश में जो ''नगनगनग'' बोल है वह वर्तमान में तबलो के दांए मुख पर दोनों हाथों से वादन कर निकाला जाता है जिसे नाट्यशास्त्र निदिृष्ट समविषम प्रचार के अन्र्तगत कह सकते है।

वर्तमान समय में सम तथा सम विषम प्रचार का प्रयोग होता है, परन्तु कुछ स्थानों जैसे मनिपुरी वाद्य खोल पर इन तीनों प्रकार के प्रचारों का प्रयोग देखने को मिलता है।

4:1:9:10 त्रिसंयोग– पुष्कर वाद्यों को लघु, गुरू तथा प्लुत वर्णों के साथ लय का किस तरह से संयोग किया जाए या प्रयोग किया जाए उसे संयोग कहते है। संयोग के तीन प्रकार है गुरू संयोग, लघु संयोग तथा लघु गुरू संयोग। वर्तमान परिपेक्ष्य में ताल के संदर्भ में इन त्रिसंयोंग को उदाहरण सहित इस प्रकार कहा जा सकता है।

4:1:9:10:1 गुरू संयोग– वह बोल जो स्वर युक्त हो। **जैसे–धा धिं धिं धा।**

धा	धिं	ना	धा	तिं	ना

4:1:9:10:2 लघु संयोग– लघु संयोग में वह वर्ण या बोल आते है जिनमें स्वर उच्चारण न हो उदाहरण के रूप में धमार ताल के प्रथम खण्ड को ले सकते है, **जैसे–क धि ट धि ट।**

क	धि	ट	धि	ट

4:1:9:10:3 लघुगुरू संयोग– इसमें वह वर्ण आते है जो दो वर्णों के संयोंग अर्थात् लघु तथा गुरू के संयोग द्वारा निर्मित होते है। जैसे– दिल्ली घराने का कायदा उदाहरण स्वरूप इस प्रकार है–

धा ति	धा गे	ना धा	तिरकिट	धा ति	धा गे	ति ना	किं ना
गुरू लघु	गुरू लघु	गुरू गुरू	ल ल ल ल	गुरू लघु	गुरू लघु	लघु गुरू	गुरू गुरू

4:1:9:11 पंचपाणि प्रहत– त्रिपुष्कर वाद्यों के वादन विधि के लिए भरत मुनि ने हाथों के द्वारा आधात करने की विधि पाँच प्रकार की बतायी है। सम पाणि, अर्धपाणि, पार्श्वपाणि, प्रवेशिनी पाणि, अर्धार्धा पाणि। भरत मुनि द्वारा वर्णित पांच प्रहारों के नियम अवनद्ध वाद्यों में निकालने के वैज्ञानिक नियम के अनुसार है, क्योंकि किसी भी वादन शैली को बजाने से पूर्व यह जान ले कि वादन किस प्रकार होगा। यह जान लेने से वादन आसान हो जाता है कि वर्तमान समय में भी इसी बात को ध्यान में रखते हुए। गुरूजन अपने शिष्यों को सर्वप्रथम वाद्यों पर अलग–अलग प्रहारों के नियम का ज्ञान कराते है। जिसे वर्तमान में तबले या अवनद्ध वाद्य पर हाथ रखना कहलाता है।

4:1:9:11:1 समपाणि प्रहत– नाट्यशास्त्र के अनुसार अवनद्ध वाद्यों का वादन करते समय जब पूरी हथेली व अंगूठे के साथ तेज गति से प्रहार किया जाए तो उसे समपाणि प्रहार कहते है तथा यह वर्णन नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। वर्तमान संगीत में तबला वादन के बोल जैसे धिरधिर में इसका स्पष्ट रूप दिखायी देता है।

4:1:9:11:2 अर्द्धपाणि प्रहत– नाट्यशास्त्र के अनुसार अवनद्ध वाद्य के वादन के समय जब उसके मुख पर आधी हथेली से प्रहार किया जाए तो उसे अर्द्धपाणि प्रहार कहते है। वर्तमान में तबले पर आधी हथेली द्वारा कई वर्ण का वादन किया जाता है जैसे– दिं, तित् आदि।

4:1:9:11:3 अर्द्धाधपाणि प्रहत– नाट्यशास्त्र के अनुसार हथेली के ¼ भाग से अवनद्ध वादन पर आघात पर अर्द्धाधपाणि होता है। वर्तमान अवनद्ध वाद्य तबले पर खुले हाथ से ''ता'' को इसके उदाहाण रूप में देखा जा सकता है।

4:1:9:11:4 पार्श्वपाणि प्रहत– नाट्यशास्त्र के अनुसार जब अवनद्ध वाद्य पर हाथ को मोड़कर या टेड़ाकर या हाथ्ज्ञ के निचले हिस्से से प्रहार किया जाए तो उसे पार्श्वपाणि प्रहत कहा जाता है। वर्तमान तबला व ढ़ोलक के वादन में तर्जनी, कनिष्ठा व मध्यमा को मोड़कर तबले की स्याही के बीचों–बीच 'तक' बोल बजाया जाता है, तो वह पार्श्वपाणि के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

4:1:9:11:5 प्रदेशनी पाणि प्रहत– नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रदेशनी पाणि को भरत मुनि से अंगुलियों के अग्र भाग (आगे के हिस्से) से प्रहत करने का वर्णन किया है। वर्तमान में तबले, ढ़ोलक या कुछ अवनद्ध वाद्य पर तिरकिट, तिट, तित् अनेक बोलो को इसके उदाहरण रूप में देखा जा सकता है।

4:1:9:12 त्रिप्रहार– हाथों के प्रहारों के साथ किस प्रकार की गूंज या ध्वनि हो इसका वर्णन त्रिप्रहार में होता है। भरत मुनि ने तीन प्रहार के बताए है। निगृहित अर्धनिगृहित मुक्त प्रहार, जिसमें अर्न्तगत ध्वनि में गूंज न हो **जैसे वर्तमान तबले के बोल –तिट्, क, किट।** अर्थनिगृहित इस प्रकार करना जिसमें गूंज अधिक न हो जैसे तबले के किनार के बोल ना, ता आदि। मुक्त प्रहार इस प्रकार के अर्न्तगत पूर्ण गूंज युक्त बोलों का वादन होती है। वर्तमान तबले के संदर्भ में**–धा, घा, दिं, तिं तथा खुला ग।**

4:1:9:13 त्रिमार्जना– नाट्यशास्त्र में पुष्कर वाद्य को स्वर में मिलाने की विधि को मार्जना कहा है। गायक तथा वादक जिस स्वर के अर्न्तगत गायन, वादन करते थे, पुष्कर वाद्यों को उसी स्वर में मिलाया जाता था। त्रिपुष्कर वाद्य के आंकिक, उर्ध्वक तथा आलिंग्य था, को स्वर में मिलाने को मार्जना कहा है जो तीन प्रकार से बतायी है। जिसे त्रिमार्जना कहा है– 1. मायुरी 2. अर्धमयुरी और 3. कार्माखी। वर्तमान समय में भी अवनद्ध वाद्य, तबला, पखवज या मृदंग को स्वर में मिलाने की प्रथा है। आज भी जिस स्वर में गायन या वादन होता है, उसी स्वर के अर्न्तगत अवनद्ध वाद्य को मिलाया जाता है।

4:1:9:14 अलंकार– नाट्यशास्त्री,य अलंकारों की संख्या 20 बतायी है। इनके द्वारा पुष्कर वाद्यों में उन्नती प्रधान की जाती थी, लेकिन नाट्यशास्त्र इसके सम्बन्ध में इसकी कोई स्पष्ट विवेचन प्राप्त नहीं होती। वर्तमान में इनका प्रयोग अवनद्ध वाद्य के वादन विधि में नहीं होता।

4:1:9:15 जाति– भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में पुष्कर वाद्यों की अट्ठारह जातियाँ बतायी है, जिनके द्वारा यह स्पष्ट होता था कि किस तरह के नाट्य के पात्र में किस प्रकार के अक्षरों की व्यवस्था कर प्रयोग किया जाए नाटक के साथ प्रयोग किए जाने वाले वृन्दवादन में पात्रों तथा गायन के साथ और तन्त्री वाद्यों के साथ जब मृदंग के साथ संगति करते हुए उनमें मार्जनाओं लय के भेंद तथा छंद में प्रयोग लघु–गुरू अक्षरों का प्रयोग आदि सभी के संयोग से अट्ठारह जातियों का निर्माण हुआ। आज भी इन जातियों का प्रयोग किसी सीमा तक होता है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में वर्णित पुष्कर वाद्यों के जो तीन रूपों को बताया गया है उन तीनों अंगों को देखते हुए उनमें स्वर युक्त मार्जना की जाती थी जो आज भी अवनद्ध वाद्यों में की जाती है। फिर समय–समय पर लोगों की रूची या समय के इतने अंतराल में वाद्यों की बनावट या उनके वादन में परिवर्तन आना अनिवार्य था साथ ही यदि ध्यान से देखे तो वर्तमान समय के प्रमुख अवनद्ध वाद्य तबला है अगर इसकी तुलना भरत निदृष्ट पुष्कर वाद्य से करें तो यह स्पष्ट होता है कि जो उस समय वास्तविक स्वरूप पुष्कर वाद्य का था। वही आज भी है, परन्तु उसमें कुछ परिवर्तन आए है। समय के अन्तराल तथा लोगों की रूची तथा संस्कृति द्वारा आना अनिवार्य था जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि यह पुष्कर वाद्य का विकसित रूप है। संक्षेप में यह कह सकते है कि अवनद्ध वाद्यों की रचना तथा उनकी महानता को विवेचन नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। उसी को आधार मानकर वर्तमान अवनद्ध

वाद्यों का विकास हुआ है अतः कह सकते है कि चाहे दक्षिण संगीत हो या उत्तर भारतीय संगीत इनके स्वर, पद, ताल आदि का आधार भरत मुनि निदृष्ट नाट्यशास्त्र ही है।

4:1:10 भूमिका विकल्पाध्याय

नाट्यशास्त्र के इस पैंतिसवें अध्याय के अर्न्तगत ताल तथा ताल शास्त्र का विवेचन करते हुए कहा गया है कि पात्र को लय, ताल आदि का ज्ञान होना परम अवश्यक है, यदि इस तथ्य की वर्तमान में विवेचना की जाए तो यह ज्ञात होता है कि आज भी पात्र के लिए यह नाट्यशास्त्र में वर्णित सभी अनिवार्य तत्व है। साथ ही नाट्य के निर्देश्न के विषय में भी जिन तत्व को नाट्यशास्त्र में बताया गया है वह आज वर्तमान परिपेक्ष्य भी अनिवार्य प्रतीत होते है क्योंकि बिना ताल, लय के ज्ञान के संवाद, नाट्य तथा संगीत का ताल–मेल सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार यह अध्याय ताल तथा संबन्धित शास्त्र के वर्तमान उपयोग को सिद्ध करता है तथा यह वर्तमान के साथ–साथ भविष्य में भी प्रयोग होता रहेगा इस बात को भी सिद्ध करता रहेगा।

4:2 नाट्यशास्त्र में वर्णित तालों की वर्तमान उपयोगिता

भारतीय संगीत में संगीत के अन्य तथ्यों की तरह ताल का वर्णन भी सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में ही प्राप्त होता है। ताल पद्धति नाट्यशास्त्र के तालविधानाध्याय में अत्याधिक बारीकी (महीन) तथा पूर्णता से वर्णन किया गया है। भरत मुनि ने ताल का वर्णन करते हुए कहा है–

तालो घन इति प्रोक्ताः कला–पात–लयान्वितः॥
कलास्तस्य प्रमाणं वै विज्ञेयं ताल्योक्तृभिः॥[1]

अर्थात्– काल का वह खण्ड जो कला, पात तथा लय के योग से घन वाद्य के द्वारा किया जाए वह ताल है। संगीत प्रस्तुत करते समय जब ताल की व्यवस्था की जाती है, उस समय की मापन क्रिया को कला की संज्ञा से संबोधित किया जाता है। उस समय काल ही ताल का प्रमाण निदर्शक होता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव भारती में ताल को इस प्रकार कहा है–"**तले भवस्ताल**"[2] अर्थात् तल का अर्थ है–आधार, जो किसी चीज़ को अपने ऊपर धारण करता है, ताल कहा जाता है, उसी प्रकार से जो संगीत की

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / नाट्यशास्त्रम / अध्याय–31 / श्लोक–1
(2)अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृ0–152

तीनों विधाओं को अपने ऊपर धारण करता है, ताल कहलाता है तथा गीत में क्रिया के काल मापन को ताल कहा गया है। भरत मुनि ने तालों के दो भेंद तथा दो मुख्य ताल कहे है, चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र। इन दोनों प्रकारों की अवस्था व सृष्टि एक जैसी है।

चतुरस्त्रष्च त्र्यस्त्रष्च तालो द्विविध एव हि॥
द्विविधस्यापि तालस्य चैका प्रकृतिरिष्यते॥[1]

शारंगदेव द्वारा भी ताल के दो मुख्य भेंद कहे है– चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र। जिनके चच्चत्पुट तथा चाचपुट प्रतिरूप ताल है, इनकों ही चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र कहा है। यहाँ अश्र को कोने कहा गया है, जिससे चतुरस्त्र का अर्थ होता है, चार कोने वाला तथा त्र्यस्त्र को तीन कोने वाला कहा है। इसी कारण से चच्चत्पुट को चतुरस्त्र तथा चाचपुट को त्र्यस्त्र कहा गया है।

चतुरश्रस्तथा त्र्यश्र इति तालों दिधामतः।
चच्चत्पुटश्चाचपुट इति नाम्नी तयोः क्रमात्।।[2]

सोमेश्वर कृत मानसोल्लास में चतुरस्त्र तथा त्र्यस्त्र के स्वरूप अलग प्रकार में बताया है–

चत्वारों गुरवो यत्र गुरूदितयवर्धिताः।
होना वा गुरूयुग्मेन तालास्ते चतुरस्त्रकाः।।

गुरूत्रयं भवेद्दस्मिन् षड़िभः षड़िभर्विवर्धितम्।
त्र्यस्त्रः स तालों विज्ञेयः प्रस्तारेषु बहुष्वपि।।[3]

अर्थात्– चार गुरूओं में दों गुरू की वृद्धि करने या कम करने से चतुरस्त्र ताल बनता है तथा तीन या छः गुरूओं की वृद्धि करने से त्र्यस्त्र ताल की निर्मिति होती है। यह दृष्टिकोण भरत तथा शारंगदेव से अलग विदित होता है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में चतुरस्त्र तथा त्र्यस्त्र ताल रचना में कहा है, कि चार गुरूओं को दोगुना करने पर चतुरस्त्र तीन गुरूओं को दोगुना करने पर त्र्यस्त्र ताल होता है। भरत मुनि द्वारा चतुरस्त्र ताल को युग्म तथा त्र्यस्त्र ताल को ओज की संज्ञा भी दी है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने पाँच तालों का वर्णन किया है– चच्चत्पुट, चाचपुट, षटपितापुत्रक, सम्पक्वेष्टक, तथा उद्घट्ट।

---

(1)शुक्ला शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम् / अध्याय–31 / श्लोक–7
(2)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / शारंगदेव–संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–297–298
(3) पं0 सोमेश्वर / मानसोल्लास / अध्याय–16 / विशांति–4नियत भाग / श्लोक–840,841 / पृ0–108–109

इनमें प्रथम के दो ताल मुख्य ताल है तथा उन्हीं दोनों तालों को चतुरश्र तथा त्र्यस्त्र तालों का प्रतिरूप कहा गया है। इनके अतिरिक्त भरत मुनि इन तालों के दो और भेंद कहे है– मिश्र तथा संकीर्ण, जो 5, 7, 9, 10 तथा 11 कलाओं में निहित होते है। इन सभी तालों का प्रयोग आसारित गीतकों व ध्रुवाओं के स्थान पर इनके अन्य सप्त गीतांगों में होता है। नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव भारती में अभिनव गुप्त द्वारा विशाला, सुनन्दा आदि नियमावली में 5, 7, 9, कला वाले ताल, ओवेणक में 10 कला के तालों का प्रयोग तथा एककल माद्क के अर्न्तगत द्वादशकल वस्तु के प्रतिबिम्ब में पहली कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं में ग्यारह कला के रूप का उपयोग किया जाता है। इसके संर्कीण प्रकृति के होने के कारण इसे चच्चप्तुट आदि तरह से अलग नाम नहीं दिया गया है।(1) समस्त तालों के तीन–तीन रूपों का वर्णन किया गया है, यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल। इसे अभिनव भारती नामक टीका में भरत मुनि के द्वारा कहा गया माना है, और असके लक्षणों को इस प्रकार बताया है।–

यथाक्षरकृतैः पातैस्तालो ज्ञेयो यथाक्षरः।
गुर्वक्षरैश्च विश्लिष्टैः स एव द्विकलो भवेत्।।
द्विर्भावाद् द्विकलस्थापि विज्ञेयोऽय चतुष्कलः।।(2)

यथाक्षर अर्थात् यथा+अक्षर। यथा का अर्थ है जैसा था, या जैसा हो, अक्षर अर्थात् प्रयुक्त वर्ण। ताल के वर्ण का जैसा मान होता है। उसी के मान के अनुसार उसकी क्रिया होती है। जिसे यथाक्षर कहते है। वही यथाक्षर जब गुरू अक्षरों से संयुक्त होकर दोगुना हो जाते है तब उसे द्विकल तथा द्विकल के दोगुना होने पर चतुष्कल कहलाते है। संगीत रत्नाकर में यथाक्षर का लक्षण इस प्रकार से बताया गया है।

''नामतैर्गलैस्तत्र यथाक्षरः अयमेकंकाल''(3)

अर्थात् ताल के स्वरूप में रहने वाले लघु, गुरू के अनुरूप यथाक्षर होता है, उदाहरणार्थ– चच्चत्पुट (ऽ ऽ। ऽ)। इस प्रकार अक्षरों पर उनके लघु, गुरू, प्लुत आदि के अभिधान से प्रत्येक क्रिया का यथाक्षर रूप कहलाता है। इसके अतिरिक्त शारंगदेव ने ताल का खण्ड़ नामक भेंद का भी वर्णन किया है।

---

(1) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृ0–23–25
(2) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृ0–39–40
(3)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–19

चच्चत्पुटादिभेदास्तु सन्ति खण्डाभिघाः परे।
देशीतालप्रपञ्चेन तानपि व्याहरामहे।।(1)

अर्थात्– शारंगदेव ने इस श्लोक को वर्णित करते हुए कहा है, कि चच्चत्पुट तथा चाचपुट ताल के खण्ड नामक अन्य प्रकार भी होते है, जो देशीताल के प्रपंच रूप में जाने जाते है। मुमकिन है कि अलग–अलग मेरूओं के माध्यम से निर्मित प्रस्तारों के रूप में देशी ताल, मार्ग तालों से ही विकसित हुए हो, जो तालों के खण्ड या भेंद कहे जाते है। अभिनव ने इसकी विवेचना करते हुए, इसके असंख्य भेंद कहे है।

असंड्ख्यानि सहस्राणि कोटिनामयुतानि च।
तालदूयंप्रभेदन पूरा प्रोक्तानि शम्भुना।।(2)

भरत मुनि ने भी नाट्यशास्त्र में खण्ड भेंदों का वर्णन तो नहीं किया है, परन्तु अभिनव गुप्त के मतानुसार भरत मुनि को भी यह भेंद स्वीकार थे।

तथा ध्रुवाणां सर्वेषु कलातालौ प्रयोजयेत।
भड्ंगतालश्र क्रर्तव्यो नत्कुटानां यथाविधिः।।(3)

अर्थात्– ध्रुवाओं के सभी प्रकारों में मूल रूप से कला तथा ताल को नियुक्त करते हुए और नत्तुटको की अवस्था में नियम के अनुसार उनमें खण्ड तालों का नियोजन करना चाहिए। अभिनव गुप्त ने भी भड्ंग तालों को भी ध्रुवाओं के मूल प्रकृतिक रूपों में षटपितापुत्रक त्र्यश्र, चतुरश्र मिश्र तालों के खण्ड़ करने से उनकी प्राप्ति कही है। इस तरह इन तालों के मिश्र तथा संर्कीण और लय के भेंद से अन्य भेंद बनते है। जिनको उपभड़्ंग तथा विभड्ंग लय ताल कहा है तथा इनका प्रयोग चच्चत्पुटादि के अलावा ध्रुवाओं में भी होता है।**(4)** पंडित सोमेश्वर द्वारा रचित ग्रन्थ मानसोल्लस में उन्हें भी मिश्र तथा संकीर्ण भेंदों का वर्णन किया है–

चतुरस्त्रे गुरूर्यत्र त्र्यस्त्रे च गुरूयुग्मकम्।
प्रवेश्यते स बोद्धव्यस्तालों मिश्रसमाख्यया।।

त्र्यस्त्रे वा चतुरस्त्रे वा भेद्दते गुरूलक्षणम्।
यत्र तालः स विज्ञेयः खण्डानामाड्किंतो बुधैः।।(5)

---

(1)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–42
(2)अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–410 / पृ0–392
(3)शुक्ला शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/नाट्यशास्त्रम / अध्याय–31 / श्लोक–386 / पृ0–192
(4) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–410 / पृ0–392
(5) पं0सोमेश्वर / मानसोल्लास / अध्याय–16 / विशांति–4 तृतीय भाग / श्लोक–843,844 / पृ0–108–109

इस श्लोक में सोमेश्वर पंडित का कथन है, कि चतुरस्त्र ताल में एक तथा त्रयस्त्र ताल में दो गुरूओं के योग से मिश्र ताल की निर्मित होती है तथा इन दोनों तालों के गुरू में खण्ड कर देने पर खण्ड ताल का निर्माण होता है। खण्ड का अर्थ है विभाग करना या टुकड़े करना इन तालों की निर्मिति गुरू, लघु आदि के रूप में भेदन करके होता है। संगीत रत्नाकर में शारंगदेव द्वारा वर्णन किया है।

गुर्वाधाश्चतुरज्ञादेः खण्डयित्वा निवेशिताः।
यदा लघ्वादिखण्डानामाधिक्यमिह द्वश्यते।
तैनैषां खण्डतालत्वमभाषन्त पुरातना।।(1)

संगीत राज ग्रन्थ में खण्ड तालों को स्पष्ट करते हुए कहा है–

देशीतालस्य संज्ञा खण्डताल इतीस्तिा।
यतोऽत्र चतुरस्त्रादेर्गुर्वाधाः बुधैः।
लध्वादिखण्डाधिक्येन खण्डतालत्वमीर्यते।।(2)

सर्वप्रथम संगीत रत्नाकर में देशी ताल में इस प्रकार कहा है।

देशीतालस्तु लघ्वादिमितया क्रिया मतः।
यथाशोभः कास्यतालध्वननादिकया मतः।।(3)

अर्थात्– समान्य भाषा में यह कहा जा सकता है, कि वह क्रिया जिसका मान लघु आदि के बराबर हो वह देशी ताल माना जा सकता है। इस श्लोक के अनुसार इसका प्रयोग सास्य ताल के उत्पन्न ध्वनि के माध्यम से देशी ताल में सौन्दर्य बोध होता है।

भरत मुनि द्वारा रचित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में देशी शब्द सम्बोधन या इससे मिलते–जुलते किसी भी शब्द का कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार देशी तालों के बारे में भी यही कथन है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि पाँच मार्ग के आदिशेष नाट्यशास्त्र में कोई भिन्न ताल नहीं थे या उनका उपयोग नहीं होता था या उनका उपयोग नहीं होता था। चतुरस्त्र तथा त्र्यस्त्र के मिश्रण योग से पाँच तालों का भरत मुनि ने वर्णन किया है। भरत मुनि द्वारा गीतकों तथा निर्गितों में पाँच मार्ग तालों के प्रयोग के नियम को कहा है।

---

(1)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–254–256
(2) राणा कुम्भा / संगीतराज / तृतीय वाद्य रत्नकोश / श्लोक–5–6
(3)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–237

मार्गी ताल व उनकी क्रिया का प्रयोग संकेत के रूप में कहीं–कहीं ध्रुवाओं का निरूपण बताया गया जिसके दो भेदों में सताल और अताल कहे गए है तथा अभिनय कर्ता के मन के भावों तथा व्यवहार आदि के लिए जिन तालों का उपयोग होता है, उन्हें भरत द्वारा मार्गी तालों के अन्र्तगत ही रखा गया है। इस प्रकार यह प्रतीत बोध होता है कि भरत मुनि द्वारा ध्रुवाओं में मार्ग तालों के अतिरिक्त भी भरत मुनि के मन के विचार तथा भावों में अन्य तालें थी, अन्यथा इन तालों को भी मार्ग तालों का नाम दिया जा सकता था। भरत मुनि कृत ग्रन्थ नाट्यशास्त्र मूलतः नाट्य का ग्रन्थ है। उसमें जो संगीत के लक्षण विद्यमान है, वह मुख्य रूप से नाट्य संबन्धित है। इसमें मार्ग तालों का उपयोग मुख्य रूप से पूर्वरंग के अन्र्तगत गीतकों तथा निर्गीतों में किया जाता था। इसके अतिरिक्त दूसरे तालों का उपयोग नाटक के साथ प्रयोग होने वाली अलग–अलग ध्रुवाओं के साथ होता था। अभिनव गुप्त ने भी ध्रुवाओं के साथ लय भङ्गादि तालों के प्रयोग का वर्णन किया है। ताल शास्त्र की कोई चर्चा करने से पूर्व ताल के रचना, गति तथा अवस्था के हेतु, जिन उपादानों की अनिवार्यता होती है, उन पर विचार करना अति आवश्यक है। मध्ययुग में इन उपादानों को ताल के प्राणों की संज्ञा दी है। सर्वप्रथम ताल के इन उपादानों को प्राण की संज्ञा संगीत मकरंद में दी गयी है। संगीत मकरन्द ग्रन्थ का समय अधिकतर विद्वानों ने संगीत रत्नाकर से पूर्व सातवीं से नवीं शताब्दी के मध्य का माना है।[1] नारद मुनि कृत संगीत मकरन्द ग्रन्थ में ताल के दस प्राणों का वर्णन इस प्रकार कहा है–

कालमार्गक्रियांगनि गृहजातिकलालयाः।
यतिप्रस्तारकं चैव तालाप्राणा दशस्मृताः।।[2]

भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में घटकों का वर्णन किया गया है, परन्तु उनका प्राण की संज्ञा के रूप में उनका वर्णन प्राप्त नहीं होता। भरत मुनि ने प्राण के स्थान पर इन्हें ताल के घटक कहा है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में ताल घटक के रूप में जो ताल तत्व कहे है, वह इस प्रकार है– काल, मार्ग, क्रिया, कालअवयव, पाणि, ताल भेंद, कला, लय तथा यति। भरत मुनि ने प्रस्तार प्राण या शब्द का उल्लेख नहीं किया, परन्तु अभिनव गुप्त ने चच्चत्पुट अन्य तालों की भंग करने की क्रिया (खण्ड) अनेक प्रकार के तालों की निर्मिति कही है। प्रस्तार करना

(1) ठाकुर नाथ पं0 ओमकार / संगीतांज्जलि / पृ0–20
(2) पं0 नारद / संगीत मकरन्द / नृत्याध्याय / तृतीय पाद / श्लोक–51 / पृ0–46

या भंग करना दोनों शब्द एक–दूसरे के पूरक है। अभिनव गुप्त के मत अनुसार ताल के यह भंजन या खंड रूप भरत मुनि को मान्य थे। नाट्यशास्त्र में ताल के घटक या प्राण में अंग तथा जाति शब्द का वर्णन नहीं मिलता। भरत मुनि ने 18 जातियों का प्रयोग तो किया परन्तु वह जातियाँ जातिगान से संबन्धित है।भरत मुनि ने ताल के अन्तर्गत जाति शब्द का प्रयोग नहीं किया, उन्होंने जाति के स्थान पर ताल भेंद कहे है(त्र्यस्त्र और चतुरस्त्र)। अतः जाति को भेंद की संज्ञा दी है। अंग को भरत मुनि ने काल अवयवों के रूप में वर्णित किया है। शोधार्थी द्वारा ताल के घटकों(प्राणों) का वर्णन इस शोधकार्य के पूर्व के अध्याय में किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत इन ताल घटकों की वर्तमान उपयोगिता तथा स्वरूप का वर्णन किया जाएगा।

4:2:1 काल– समान्यतः काल शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है, परन्तु संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य में लगने वाले समय को काल कहा जाता है। संगीत में काल को मापने का साधन ताल होता है। काल के अन्र्तगत ताल एक खण्ड है जो लघु, गुरू इकाइयों द्वारा व्यवस्थित और सशब्द तथा निशब्द क्रियाओं से कथित या अभिव्यंजित होता है, आदि काल से अधुनिक काल तक के संगीत विद्वानों द्वारा ''काल'' को जिस रूप में कहा है, उस पर विचार करना अवश्यक है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के तालाध्याय के प्रथम श्लोक में काल के स्वरूप को इस प्रकार उल्लेख किया है, लयान्वित कला तथा मात्राओं को आधार मान कर क्रियाओं के माध्यम से माना गया काल ही ताल है। अभिप्राय यह है कि ताल शास्त्र में सुनिश्चित की हुयी इकाइयों के आधार पर किया गया मापन समय ही ताल शस्त्र में काल कहा जाता है। ज्योतिषशास्त्र में काल मापक इकाई, त्रुटि, लव, निमेष, क्षण इत्यादि है।[(1)] भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में ताल शास्त्र की इकाई लघ, गुरू तथा प्लुत इन तीनों अवयवों का ही उपयोग किया है। क्षण, काष्ठ, निमेष आदि बेहद छोटे अवयवों (अंगों) को ताल के विषय में असंबंद्ध करते हुए, इनको केवल काल के अवययों का ही रूप माना है। काष्ठ की धारणा अलग–अलग इकाइओं तथा उनके मान का उल्लेख सबसे पहले संगीत समयसार में प्राप्त होता है। संगीत समयसार

---

(1) मिश्र, रमावल्लभ / ताल के प्राण / संगीत कला विहार / 1984 / पृ0–39

संगीत रत्नाकर का समकालीन ग्रन्थ माना जाता है। संगीत रत्नाकर में काल मापन भरत मुनि की तरह लघु आदि क्रियाओं द्वारा किया जाता है।

कालो लध्वादिमि तथा क्रियया समितो मितिम।[(1)]

परन्तु संगीत समयसार ग्रन्थ में लघु आदि क्रियाओं से भिन्न प्रकार से काल मान कहा है, जो पूर्व के ग्रन्थों से अलग है। इन्होनें 100 कमल के पत्तों में सुई से भेदन के समय से लेकर एक प्लुत तक के काल मान को इसके अर्न्तगत समाहित किया है। संगीत समयसार में 100 कमल के पत्तों के भेदन करने के समय को क्षण कहा है।

उपर्च्युपरिविन्यस्तपघप़शते सकृत्।
यः कालस्सूचिसम्भेदात् स क्षणं स्याद्दलं प्रति।।[(2)]

इसी ग्रन्थ में एक मुख्य विशेष बात यह है कि इसमें अंगों का प्रमाण कुछ अलग परम्परा से बताया है और पारम्परिक रूप से चले आ रहे लक्षणों अवयवों (अंगों) के साथ–साथ दूसरे अंगों (अवयवों) को भी मान्यता दी गयी इन अवयवों के काल प्रमाण की धारणा इस प्रकार है।

काल	1 क्षण	2 त्रुटि	1 अर्धद्रुत
8 क्षण	1 लव	2 अर्धद्रुत	1 बिन्दु
8 लव	1 काष्ठ	2 बिन्दु	1 लघु
8 काष्ठ	1 निमेष	2 लघु	1 गुरू
8 निमेष	1 काल	3 लघु	1 प्लुत[(3)]
4 काल	1 त्रुटि		

इसके पश्चात् पार्श्वदेव के बाद के ग्रन्थकारों ने संगीत समय सार का ही अन्य ग्रन्थकारों ने संगीतसमयसार के अनुसार ही कालमान कहा है। 16वीं शताब्दी में श्रीकंठ द्वारा रचित गन्थ रसकौमुदी में भी कालमान संगीत समय सार के अनुरूप ही 100 कमल पत्तों में एक बार सुई छेदन का काल एक क्षण ही माना है।

---

(1)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–3
(2) पं0 पार्श्वदेव / संगीत समयसार / अध्याय–8 / श्लोक–24
(3) पं0 पार्श्वदेव / संगीत समयसार / अध्याय–8 / श्लोक–407

पद पत्रशते सुचीभेदात्कालः क्षणः स्मृतः।[(1)]

17वीं शताब्दी के संगीत दर्पण में पं0 दामोदर ने ताल के काल मान पार्श्वदेव के अनुकूल ही कहा है। उन्होनें भी सौ कमल पत्तों के एक बार छेदन को क्षण कहा है। पं0 दामोदर ने भी ताल की सबसे छोटी इकाई अणुद्रुत ही मानी है तथा ताल की प्रारम्भिक इकाई मानी है–

अणुद्रुतं समारभ्य तालकालोत्रकश्यते।
क्षणदिरूपकालेन तालो ने तुं नशक्यते।।[(2)]

16वीं शताब्दी में पं0 अहोबल द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत पारिजात में विशेष रूप से काल निरूपण के सूक्ष्म एंव वृहद खण्डों इस प्रकार विभाजित किया है जैसे किसी भी पूर्व के संगीत प्रमाणित ग्रन्थों नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में घडी, दिन, मास आदि काल के विभाग काल के मुख्य रूप से आवश्यक है कि व्यवहारिक रूप में संगीत में प्रयुक्त होने वाले द्रुत आदि काल अवयवों का विशेष कर महत्व है। इस ग्रन्थ के वाद्याध्याय में श्लोक 6 से 12 में काल विभाजन पार्श्वदेव के समान नही माना है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र शास्त्र से लेकर संगीत रत्नाकर काल का निरूपण लगभग एक विशेष मोड़ आया। इसमें काल के सबसे छोटे मान क्षण, लव, काष्ठा, निमेष आदि छोटी इकाइयों को काल में निरूपित किया है। प्राचीन काल में काल अवयवों का समय में यह उपयोग अकुशल है, क्योंकि आधुनिक विद्वानों का मानना है कि सौ कमल पत्तों के छेदन समय कभी एक जैसा नहीं हो सकता, जो कई तथ्यों से सिद्ध होता है, जैसे सुई का नुकीलापन, सुई के धातु की कठोरता तथा भेदन करते समय कितनी शक्ति से लगी कभी कम कभी ज्यादा।

भारतीय तालों का शास्त्री,य विवेचन में डॉ0 अरूण कुमार सेन द्वारा घडी के सेकेण्ड क्रम को भी काल आकलन के लिए उपयोगी नहीं माना है, परन्तु वर्तमान समय में घडी के सेकेण्ड आज व्यवहारिक रूप में चलन सार तथा अर्थ वाला भी है।[(3)] अभिप्राय यह है कि किसी भी ताल में सशब्द तथा निशब्द क्रियाओं के द्वारा निश्चित की गयी, मात्राओं को संख्या के अनुकूल जो समय मापन किया जाता है। वह समय ताल विधि के अनुसार काल कहा जाता है। उदाहरण के लिए वर्तमान समय के तीन ताल को देखे तो इस ताल की 16 मात्राएँ है,

---

(1) पं0 श्रीकंठ / रस कौमुदी / अध्याय–4 / श्लोक–97
(2) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / श्लोक–638–641
(3) सेन अरूण कुमार / भारतीय तालों का शास्त्री,य विवेचन / पृ0–256

इसमें पात क्रिया चार–चार मात्रा के पश्चात् की जाती है। अतः 16 मात्राओं के अर्न्तगत जो तीन सशब्द क्रिया तथा एक निशब्द क्रिया, जिस समय में की जाती है। उसमें जितना समय लगता है, उसे तीनताल का काल कहा जाएगा। अतः शोधार्थी का मानना है कि जिस प्रकार अलग–अलग देशों में काल–गणना की अपनी–अपनी विशेषता युक्त तकनीकों का अविष्कार किया गया है। उसी तरह से संगीत गणना का अलग मानक है, भारतीय संगीत में आज अलग–अलग पद्धितियों में काल गणना की अपनी–अपनी मूल संबंधित प्रथा समय के अनुकूल निर्मित होती गयी परन्तु अगर ध्यान से देखा जाए तो इन सब में एकरूपता पायी जाती है और प्रविधान से ताल रूपी काल का मापन वर्तमान संगीत में होता आया है।

4:2:2 मार्ग– मार्ग शब्द का अर्थ होता है– पथ, रास्ता तथा पगडंडी। मार्ग के द्वारा ही दो स्थानों के मध्य की दूरी या लम्बाई ज्ञात होती है। ताल में मार्ग द्वारा ताल के आवर्तन की लम्बाई का ज्ञान होता है। आश्य है कि ताल शास्त्र में मार्ग का मतलब है कि गायन, वादन की क्रिया कौन सी चाल में चल रही है, वह मार्ग है। भरत मुनि ने यह मार्ग तीन बताए है– चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण।

त्रिविधा सा च विज्ञेया त्रिमार्गनियता बुधैः॥
चित्रे द्विमात्रा कर्त्तव्या वृत्तौ सा द्विगुणा स्मृता॥5॥
चतुर्गुणा दक्षिणे स्यादित्येवं त्रिविधा कला॥[1]

इस श्लोक के अर्न्तगत भरत ने कला को त्रिमार्ग नियता कहकर वर्णित किया है। अभिनव गुप्त द्वारा नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव भारती के अर्न्तगत मार्ग को स्पष्ट करते हुए कहा है, कि कला, पात का समूह जो एक निश्चित काल में सम्मिलित होता है, मार्ग कहलाता है। **नियतकाल कला सम्पातश्च मार्ग उच्यते।**[2] अभिनव द्वारा काल तथा मार्ग के संबन्ध को इस प्रकार भी स्पष्ट कहा है**– अ (आ)वापादीनां क्यिदा(द) पकर्षणं शम्यादेः कियत्पातं चित्रादिवत्युक्तौ** कि[3] **अर्थात्** इस श्लोक में वर्णित है कि एक क्रिया से दूसरी क्रिया जैसे आवाप, निष्क्राम, विक्षेप आदि निःशब्द क्रिया के मध्य कितना फैलाव या कितनी उसकी लम्बाई हो तथा सशब्द क्रिया में कितनी पात कला हो, यह सब क्रियाएँ मार्ग के अनुकूल ही होती है।

---

(1) शुक्ला शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–31 / श्लोक–5–6
(2) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृ0–174
(3) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृ0–174

संगीत रत्नाकर में शारंगदेव ने मार्ग के चार प्रकार बताए है।

मार्गाः स्युस्तत्र चत्वारों ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिकः।
दक्षिण्श्चेति तत्र स्यादं ध्रुवे मात्रिका कला।।
शेषेषु दे चतश्त्रोग्ष्टौ क्रमान्मात्राः कला भवेत्।।[(1)]

पं0 दत्तिल ने भी अपने ग्रन्थ दत्तिलम् में तीन मार्गों का ही वर्णन किया है, तथा प्रत्येक मार्ग की मात्रा भी भरत के समान ही कही है।

दिमात्रा स्यात कला चित्रे चतुर्मात्रा तु वार्तिके।
अष्टमात्रा तु विद्धहीर्दक्षिणो समुदाहता।।[(2)]

मानसोल्लास ग्रन्थ में ताल क्रिया के चार तरह के माप बताए है–वार्तिक, दक्षिण, चित्र तथा चित्रतर। इस ग्रन्थ में मार्ग के स्थान पर मान शब्द कहा है तथा लय को भी मान की संज्ञा दी है। इस ग्रन्थ में निजमान (मध्यलय) से वार्तिक, विलम्बित मान से दक्षिण तथा शीघ्रमान(द्रुतलय) में चित्र तथा अतिशीघ्र मान से चित्रतर।

वार्तिकं दक्षिणं चित्रं तुर्य चित्रतरं तथा।।
एवं चतुर्विध मानं तालपाते प्रकीर्तितम्।।
यद्वर्तते निजं मानं वार्तिक तत्प्रकीर्तितम्।।[(3)]

संगीतसार ग्रन्थ के अर्न्तगत पार्श्वदेव द्वारा मार्ग में देशी रूप सर्वप्रथम सम्मिलित किया, उन्होनें देशी से सम्बन्धित तीन मार्गों का वर्णन किया है–चित्रतर, चित्रतम तथा अतिचित्रतम। चित्रतर के अर्न्तगत एकमात्रा, चित्रतम में आधी मात्रा तथा अतिचित्रतम के अर्न्तगत चौथाई मान की कला को अणुद्रुत कह सकते है। इसका वर्णन इस प्रकार किया है–

अथदेशीगत मार्गा वक्ष्यन्ते लक्ष्यसम्थवाः।
तत्र चित्रतरश्चैकस्तथा चित्रतमोऽपरः।।
अतिचित्रतमश्चेति तथस्वरूपन्निरूप्यते।।[(4)]

नारद कृत संगीत मकरंद के अर्न्तगत मार्गों की संख्या छः बताई है।

दक्षिणों वार्तिश्चैव तथा चित्रविचित्रकः।
तथा चित्रस्तु स्याददतिचित्रतरो मतः षड़वः कथितो मार्ग।।[(5)]

---

(1) चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–10–11
(2) पं0 दत्तिल / दत्तिलम् / श्लोक–116
(3) पं0 सोमेश्वर / मानसोल्लास / अध्याय–16 / विशांति–4 तृतीय भाग / श्लोक–850–852
(4) पं0 पार्श्वदेव / संगीत समयसार / अध्याय–8 / श्लोक–19–22
(5) पं0 नारद / संगीत मकरन्द / नृत्याध्याय / तृतीय पाद / श्लोक–56–59

भरत मुनि के ग्रन्थ नाट्यशास्त्र से प्ररित ग्रन्थ संगीत रत्नाकर है। अतः कह सकते है कि संगीत रत्नाकर नाट्यशास्त्र पर ही आधारित है अर्थात् उसका आधार प्राचीन है। संगीत रत्नाकर में मार्गी के साथ देशी संगीत का भी वर्णन किया गया है। देशी तालों का अलग स्वरूप में वर्णन तथा उन्हें देशी संज्ञा से सम्बोधित करने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ संगीत रत्नाकर ही है। मार्गी को सबसे अधिक विस्तार दसवीं शताब्दी के बाद हुआ है। इस काल में ग्रन्थकारों द्वारा वर्णित छः मार्गो में से तीन मार्ग वही होते थे, जो भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में कहे है। उसके पश्चात् जिन नए मार्गों का स्वरूप प्रदर्शित होता है। वह सभी मार्ग देशी संगीत से सम्बन्धित थे। सबसे अधिक विस्तार या मार्गों के भेद मध्यकालीन ग्रन्थ संगीत दर्पण में किया गया परन्तु उनका स्वरूप स्पष्ट नहीं किया। वर्तमान समय में एक अनुमान के द्वारा ही उनका प्रयोग संम्भव हो सकता है। डॉ0 अरूण कुमार सेन ने अपनी पुस्तक भारतीय तालों का शास्त्री,य विवेचन में वर्तमान तीनताल को मार्गों के द्वारा स्पष्ट तथा तीनताल की क्रियाओं को उल्लेखित किया है।

4:2:2:1 चित्र मार्ग में तीनताल का स्वरूप

धा धिं | धिं धा | धा धिं | धिं धा

इस प्रकार सभी खण्ड़ या विभाग 2–2 मात्राओं के होगें।

4:2:2:3 वार्तिक मार्ग में तीनताल का स्वरूप

धा धिं धिं धा | धा धिं धिं धा

इस मार्ग के अर्न्तगत तीनता ल का यथाक्षर स्वरूप होता है। जो मूल वर्तमान समय में तीनताल होता है।

4:2:2:3 दक्षिण मार्ग में तीनताल का स्वरूप

धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा |

इस प्रकार दक्षिण मार्ग के अर्न्तगत तीनताल के प्रत्येक में 8–8 मात्राएँ होगी जिसे हम वर्तमान समय की तीनताल की दुगुना या द्रुतलय लय कह सकते है।

शोधार्थी का कथन है कि प्राचीन मार्ग का जो नियम है, वह वर्तमान संगीत में किसी न किसी रूप में प्रयोग हो रहा है, परन्तु वह प्रयोग किस रूप में हो रहा है, इस बात को कोई ठोस प्रमाण नही है। वर्तमान संगीत में आज जिस परम्परा का पालन हो रहा है। उसका आधार प्राचीन संगीत ही है। प्राचीन संगीत के मार्गों का वर्तमान संगीत में किस प्रकार उपयोग होता है। उसको इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्ग अर्थात् रास्ता। वह रास्ता जिसके द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी या लम्बाई ज्ञात होती है। उसी तरह से ताल में भी उसके आर्वतन की कुल लम्बाई या काल का मार्ग के द्वारा ही पता चलता है कि प्राचीन काल के संगीत में मार्ग के बदलने पर क्रिया भी बदल जाती थी या क्रिया का काल यथार्थ क्रिया से दुगना हो जाता था, जैसे चच्चत्पुट ताल की क्रिया तीनों मार्गों में एक जैसी है।

चित्र में लघु, गुरू, प्लुत का माप 5, 10, 15 है। वार्तिक के अर्न्तगत लघु 10, गुरू 2ः और प्लुत 30 तथा दक्षिण मार्ग में लघु 20, गुय 40 तथा प्लुत 60 अक्षरकाल का होता है। इस प्रकार क्रिया का काल बदलने से ताल की लम्बाई भी बढ़ जाती है। अतः मार्ग के परिवर्तन से लय में भी परिवर्तन आता है। वर्तमान काल में संगीत के गायन में बड़े ख्याल में एक ताल का 48 मात्रा का स्वरूप जिसे अतिविलम्बित एकताल कहते है। उसका प्रयोग होता है, जिसे एकताल का मार्ग द्वारा परिवर्तित रूप कह सकते है क्योंकि मुख्य रूप में एकताल 12 मात्रा का है तथा उसका 48 मात्रा का स्वरूप मार्ग परिवर्तन द्वारा उसकी लम्बाई भी परिवर्त हुई। एकताल के यथार्थ रूप में जो क्रिया होती है। प्रत्येक लम्बाई परिवर्तन के पश्चात भी क्रिया का वही स्वरूप रहता है, अतः ताल की लम्बाई परिवर्तन से लय भी परिवर्त होती है, जैसे दक्षिण मार्ग में अति विलम्बित लय, वार्तिक मार्ग में साधारण विलम्बित लय।

इस तरह मार्ग को मात्राओं के विभाजन में वर्तमान ताल पद्धति के अर्न्तगत कर सकते है। आज इस ताल शास्त्र के अर्न्तगत मार्ग के विषय में जो सिद्धन्त प्राप्त होते है उन्हें व्यवहारिक रूप में उपयोग किया जा रहा है। जिस प्रकार बड़े ख्याल, गज वाद्य आदि स्वर युक्त वाद्य में अतिविलम्बित लय को दक्षिण मार्ग के अर्न्तगत विलम्बित लय जो तन्त्री वाद्यों में मसीतखानी आदि में प्रस्तुत किए जाने वाले बड़े ख्याल में वार्तिक मार्ग का प्रयोग देखा जाता है।[1]

---

(1) पाण्ड़े सुधांशु / तालप्राण / पृ0–52

उदाहरण–

ठेका एकताल (चित्र मार्ग) दो मात्रा कला–

धिं धिं	धागे तिरकिट	तू ना	क त्ता	धागे तिरकिट	धी ना
X	0	2	0	3	4

एकताल (वार्तिक मार्ग) चार मात्रा कला–

धिं ऽ धिं ऽ	धा गे तिर किट	तू ऽ ना ऽ	क ऽ त्ता ऽ	धा गे तिर किट	धी ऽ ना ऽ
X	0	2	0	3	4

एकताल (दक्षिण मार्ग) आठ मात्रा कला

धिं ऽ ऽ ऽ धिं ऽ ऽ ऽ	धा ऽ गे ऽ ति र कि ट	तू ऽ ऽ ऽ ना ऽ ऽ ऽ
X	0	2
क ऽ ऽ ऽ त्ता ऽ ऽ ऽ	धा ऽ गे ऽ ति र कि ट	धी ऽ ऽ ऽ ना ऽ ऽ ऽ
0	3	4

इस प्रकार इस सारणी के अनुसार आज एकताल को 48 मात्रा में कहा गया है, साथ ही मार्ग का सिद्धन्त वर्तमान परिपेक्ष्य में किस प्रकार सार्थक है उसे एकताल के रूप में उदाहरण बताया गया है। एक ताल के अर्न्तगत इस मार्ग के नियम प्राचीन शास्त्र आधारित है जो आज मार्ग के अर्न्तगत व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

4:2:3 क्रिया– सामान्यतः क्रिया शब्द का अभिप्राय किसी कार्य को करना या कार्य का होना। जो संगीत में लगने वाला समय अर्थात् काल का विभाजन क्रिया द्वारा ही स्पष्ट किया जाता है। संगीत में काल को असीम न कहते हुए, उसको ताल के अर्न्तगत जो ताल का विभाजन किए जाते है। उसी के काल के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में काल को मापने के लिए सेकण्ड, मिनट, घंटे, दिन आदि को काल विभाजन में रखा गया है। उसी प्रकार संगीत में काल को विभाजित करना अनिवार्य है, जो क्रिया द्वारा अभिव्यक्त होता है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक क्रिया के भेदों में कोई अन्तर होने पर भी क्रिया की मुख्य स्मृति आज भी प्राणयुक्त है। प्राचीन संगीत में क्रियाओं के दो भेद कहे गए है– सशब्द क्रिया और निशब्द क्रिया। संगीत का सर्वप्रथम प्राचीन ग्रन्थ भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में क्रिया के दो प्रकार कहे है– सशब्द क्रिया और

निशब्द क्रिया। सशब्द क्रिया को अन्य नाम पात भी कहा जाता है और निशब्द क्रिया को कला की संज्ञा दी है।

वाद्यं तु यद्घन प्रोक्ताः कला–पात–लयान्वितः॥
कलास्तस्य प्रमाणं वै विज्ञेयं ताल्योक्तृभिः॥॥[1]

अर्थात्– संगीत को प्रस्तुत करते समय जो ताल के बीच में पड़ने वाला अवकाश होता है। उस समय को नापने की क्रिया को कला शब्द से वर्णित किया है। यहाँ पर कलापात का तात्पर्य निशब्द तथा सशब्द क्रिया से है। भरत मुनि ने इन दोनों क्रियाओं के चार–चार अन्य भेंद कहे है। सशब्द क्रिया के अर्न्तगत ध्रुवा, शम्या, ताल सन्निपात और निशब्द के अर्न्तगत आवाप, निष्क्राम, विक्षेप व प्रवेश। इन सभी के अलग–अलग नियम कहे है। अभिनव गुप्त द्वारा नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव भारती में तालाध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि शम्यादि या सशब्द और आवापादि अर्थात् निशब्द क्रिया युक्त जो ताल नियुक्त होता है तथा जिसके द्वारा काल का खण्डन किया जाता है। वह क्रिया का रूप के तथा जो द्रव्यात्मा है तथा इसी क्रिया के द्वारा गीत के काल का परिमापक है। काल ज्ञान करने के लिए क्रिया का ज्ञान होना अनिवार्य है। बिना क्रिया को जाने काल का ज्ञान होना संभव नहीं। अतः सशब्द तथा निशब्द जो क्रिया रूप है, ताल में इनका महत्वपूर्व स्थान है। क्रिया के बिना ताल का कोई अस्तित्व नहीं है।

''यद् घनं नाम वाद्यमातोद्यं प्रोक्तमुदिृष्टं तस्य तालेन भाविना शम्यादिसशब्दावापनिः शब्दक्रियाविशेषणयोगे न सति यस्तालः परिच्छित्यात्मककालखण्ड़ेः क्रियारूपो द्रव्यात्मा स एव गीतक्रियाप्रमाणपरिच्छेदोपायः॥''[2]

क्रिया का अर्थ है किसी कार्य को करना, यह क्रिया दो तरह से होती है। एक प्रकार में किसी माध्यम द्वारा क्रिया की जाती है। संगीत में वह मध्यम घन वाद्य होता है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में गायक तथा वादक के उन्माद की प्रवृत्ति के लिए अर्थात् गायक या वादक लय से बाहर न निकल जाए उसके लिए भरत मुनि ने कास्ंय तालधर के साथ संगति करना नितांत आवश्यक कहा है।

संगीत रत्नाकर में भी इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है।

---

(1) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / श्लोक–1
(2) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती–टीका नाट्यशास्त्र / तालाध्याय / पृष्ठ–151

गान्धर्वमार्गकुशलः कास्यंतालधरो परः।
गातुः सहायः कर्तव्यः प्रमादविनितृतयेः।।[(1)]

मार्ग तालों के अर्न्तगत सभी ग्रन्थकारों ने सशब्द तथा निशब्द क्रिया के चार–चार प्रकार माने है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा प्रवेशक, निशब्द क्रिया के भेंद कहे है, जो मार्गी तालों के द्विकल तथा चतुष्कल स्वरूप में प्रयोग में लायी जाती थी, अलग–अलग ग्रन्थकारों ने मार्गी ताल की निशब्द क्रिया के भेंदों का वर्णन इस प्रकार किया है। संगीत रत्नाकर के तालाध्याय के पाँच श्लोक में शारंगदेव द्वारा इस प्रकार उल्लेख किया है।

स्यादावापोऽय निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशकः निशब्देति चतुर्धोक्त।।[(2)]

संगीत मकरन्द के नृत्याध्याय के तृतीय में नारद मुनि द्वारा इस प्रकार कहा गया है–

तत्रचावादनिष्क्रामां विक्षेपं च प्रवेशनमत्।।
चतुर्विधं च कल्पेत निशब्द कथितो बुधै।।[(3)]

संगीत दर्पण में निशब्द क्रिया के चार भेद इस प्रकार कहे है।

आवापश्धाथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशकः। निश्शब्देति चतु र्धोक्ताः।।[(4)]

पार्श्वदेव द्वारा भी निशब्द क्रिया के चार भेंद कहे है–

निशब्दा सा चतुर्धा स्यादावापादिप्रभेदतः।
आवापश्चाथ निष्क्रामों विक्षेपश्च प्रवेशकः।।[(5)]

इस प्रकार सभी ग्रन्थकारों ने निशब्द क्रिया के यही चार भेंद कहे है– आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा प्रवेशक। सशब्द क्रिया के नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार कहे है। शम्या, ताल तथा सन्निपात। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के बाद के ग्रन्थकारों ने सशब्द क्रिया के भी चार भेंद माने है। इन्होनें ध्रुव, नाम की सशब्द क्रिया है। भरत मुनि ने सशब्द क्रिया के लक्षणों का वर्णन करते हुए, ध्रुव का वर्णन नहीं किया है, परन्तु उनके श्लोकों में ध्रुव नाम का वर्णन हुआ है। भरत मुनि ने ध्रुव पात का उल्लेख इस प्रकार किया है–

(1)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद)/संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–38–39
(2)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद)/संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–5
(3) पं0 नारद/संगीत मकरन्द/नृत्याध्याय/तृतीय पाद/श्लोक–69
(4) पं0 दामोदर/संगीत दर्पण/तालाध्याय/श्लोक–662–663
(5) पं0 पार्श्वदेव/संगीत समय सार/वाद्याध्याय/श्लोक–15–16

कला यास्त्रिविधाः प्रोक्ताः तासां पातो ध्रुवः स्मृतः॥
यथाक्षरस्य तालस्य स तु गुर्वक्षरो भवेत्॥(1)

अर्थात् जो तीन प्रकार की कला कही गयी है। उसमें हाथ को नीच की तरफ ले जाना ध्रुव कहा जाता है तथा यथाक्षर ताल के अर्न्तगत ध्रुव गुरू अक्षरों के स्वरूप वाला होता है। नारद कृत संगीत मकरन्द के अर्न्तगत भी ध्रुव पात का छोड़कर अन्य तीन सशब्द क्रियाओं के लक्षण कहे है। रस कौमुदी में भी सशब्द क्रिया के चार भेंद कहे है–ध्रुव, शम्या, ताल तथ सन्निपात। संगीत रत्नाकर की तरह रस कौमुदी में भी सशब्द क्रिया के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

ध्रुवः स्याद्धस्तसम्पात छोदिकाशब्दपूर्वकः।
शम्या दक्षिणहस्तस्य तालो वामशयस्य च।।
उभयोः सन्निपातः स्यात तासां मार्गवशान्मितिः।।(2)

संगीत रत्नाकर का समकालीन ग्रन्थ संगीत परिजात में भी सशब्द क्रिया के चार भेंद कहे है–

ध्रुवः शब्दस्य पातः स्याच्छोटिका शब्दपूर्वकः।।
शम्या दक्षिणहस्ते तु यदा वामेन ताऽनम्।।

ताड़नं दक्षिणे नैव तालों वामकरे पुनः।।
उपयोश्च समायोगे सन्निपातोऽभिधीयते।।(3)

मार्गी तालों में हस्त क्रिया के तस्तम् रूप देखने को मिलता है, वर्तमान काल में ताल क्रियाओं में हस्त क्रिया के रूप में केवल ताली और खाली का ही उपयोग होता है। सशब्द क्रिया के रूप में वर्तमान में ताल का ही रूप रह गया है, जो दांए हाथ से बांए हाथ पर आघात करके क्रिया की जाती है। जो नाट्यशास्त्र के सशब्द क्रिया के 'शम्या' के समानार्थी कह सकते है। निशब्द क्रिया का प्रयोग वर्तमान में केवल खाली के रूप में दांए हाथ को दांयी दिशा में झटका देकर दर्शाया जाता है, जो भरत मुनि द्वारा निशब्द क्रिया का विक्षेप रूप की सकते है। ताल क्रिया की सशब्द क्रिया तथा निशब्द क्रिया के मध्य जो विभाग में शेष मात्राओं को दांए हाथ की अंगुलियाँ क्रमानुसार बांए हाथ की हथेली पर रखकर दर्शायी जाती है जिसे भरत मुनि ने अंगुलि नियम कहा है जिसे वर्तमान के निशब्द क्रिया के समकक्ष कह सकते है। एककल आदि का स्वरूप इनमें इस रूप में देख सकते है कि चार मात्रा वाली तीनताल

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/पृष्ठ–40
(2)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद)/संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–108–109
(3) पं0 अहोबल/संगीत पारिजात/तालाध्याय/श्लोक–19–20

अर्थात् द्रुत लय में एक–एक क्रिया रहती है, आठ मात्रा वाले द्विकल रूप अर्थात् मध्यलय में हर एक सशब्द क्रिया के साथ एक–एक निशब्द क्रिया के योग कर दिया जाता है तथा सोलह मात्रा वाला तीनताल अर्थात् ठाह की लय या विलम्बित या यथाक्षर रूप में तीनताल में हर एक सशब्द क्रिया के पश्चात् तीन–तीन निशब्द क्रिया जुड़ती है।

कर्नाटक संगीत में अर्थात् दक्षिण भारत की ताल पद्धति में सशब्द क्रिया तथा निशब्द क्रिया को घातम और विसर्जितम शब्द से जाना जाता है। मणिपुरी और आसमि संगीत के अर्न्तगत अंगों को व्यक्त करने हेतु, वर्तमान में भी मुष्टि–भ्रमण हाथ छोड़ना, अंगुली पर गिनना ऐसी कई प्रकार की निशब्द क्रिया प्रयोग की जाती है।[(1)] उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् शोधार्थी का मानना है कि यहाँ भी ताल की अवस्था कर आधार लघुवादि अंग रहे है। वहाँ पर इन अंगों को स्पष्ट करने हेतु इन क्रियाओं को किसी न किसी रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। इस प्रकार शोधार्थी का मानना है कि हमारे सांस्कृतिक साधक या विद्वानों ने संगीत में सम्पूर्ण जीवन चिन्तन व मनन किया है तथा उनके द्वारा निश्चित नियम इतने सुदृढ़ हो गए है कि यह नियम अपनी संपूर्णता तथा सकलता के साथ वर्तमान परिपेक्ष्य में भी अचल या नित्य है। समय के अन्तराल के अनुसार उनकी उपयोग विधि में अन्तर आना मनोवृत्तिगत है फिर भी उनकी उपयोगी तथा लाभप्रद होने की स्थिति तथा सार्थकता असीम काल तक चलती रहेगी।

4:2:4 अंग– ताल में काल गणना हेतु सम्मिलित 'मान' को अंग कहा जाता है। नाट्यशास्त्र से इन अंगों को संगीत में काल अवयव के रूप में प्रचलन था। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा तीन काल अवयवों का वर्णन किया गया है जो–लघु, गुरू तथा प्लुत है। नाट्यशास्त्र में मार्गी तालों की विवेचना के लिए इन तीन प्रकार के अवयवों का उपयोग किया गया सामान्य व्यवहार में जो विद्वानों द्वारा कला, काष्ठ, निमेष कहे है। है। भरत मुनि का मानना है कि काल मान को ताल के विषय में नहीं समझाना चाहिए।

या लौकिकी कला काष्ठा निमेषष्च स्मृता बुधैः॥
न सा तालकला ज्ञेया ह्यन्यैषा तालगाः कला॥[(2)]

---

(1) गुलशन, सक्सेना / भारतीय ताल में अनेकता में एकता की खोज / पृष्ठ–86
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृष्ठ–2

ताल के विषय में कला, काष्ठा आदि का कोई प्रयोग नहीं होता, वह केवल ताल में काल से ही सम्बन्धित है। मार्गी तालों में भरत मुनि को केवल लघु, गुरू तथा प्लुत। इन तीन अवयवों का प्रयोग ही मान्य था। नाट्यशास्त्र में वर्णित ताल अवयवों अर्थात् अंगों में इकाइयों का सापेक्षिक संबंध केवल एक दो व तीन कहा है। मार्गी तालों में नियुक्त काल अवयव लघु, गुरू तथा प्लुत के भिन्न विराम का भी उल्लेख किया है, परन्तु विराम का प्रयोग मार्गी तालों में नहीं कहा है। भरत मुनि ने विराम का अनुसरण पंक्ति की समाप्ती को माना है, अर्थात् यहाँ अर्थ की अवसान हो उसे विराम कहा है।

यत्रार्थस्व समाप्तिः स्यात्स विराम इति स्मृतः।।(1)

सोमेश्वर कृत मानसोल्लास में पं0 सोमेश्वर ताल के पाँच अवयवों का वर्णन किया है–लघु, गुरू, प्लुत, द्रुत और बिन्दु। सोमेश्वर ने भी अंग शब्द प्रयोग न करते हुए इनको ताल के अवयव ही कहा है। मानसोल्लास में इन अंगों के चिन्ह को **0(द्रुत)।(लघु) ऽ(गुरू) ऽ।(प्लुत)** इस प्रकार दर्शाया है। इनमें बिन्दु का चिन्ह नहीं है।

गुरू (रो) लेखा शिखायुक्ता प्लुतस्य परिलिख्यते।
द्रुतस्य वर्तुला लेखा बिन्दुःस्या द् द्रुतकस्य च।।(2)

पं0 सोमेश्वर ने इन अंगों का मान इस प्रकार कहा है। लघु का पाँच अक्षरकाल, गुरू तथा प्लुत का मान क्रम अनुसार दुगुना व तिगुना कहा है। द्रुत का मान लघु का आधा कहा है तथा बिन्दु का मान द्रुत से आधा कहा है।

एकमात्रो लघु प्रोक्तो द्विमात्रे गुरूस्च्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो द्रुतः स्य (स्या) दर्घमात्रिक।।
द्रुतर्घको भवेद्यस्तु बिन्दु (:) स्याद् द्रुतकाभिधः।।(3)

मानसोल्लास ग्रन्थ के अर्न्तगत तीस तालों के नियम व प्रयोग विधि में कुछ विशेष शब्दों का उपयोग किया गया है। जिनमें कल्पनायुक्त, धृतनाद, कल्पित, विधृतध्वनि, संकल्पन**(4)**, जो स्पष्ट रूप में नहीं कहा गया है, किन्तु हो सकता है कि इन शब्दों का विराम से हो क्योंकि जिन तालों के अर्न्तगत इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। संगीत रत्नाकर ग्रन्थ में उन तालों में

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–14/पृष्ठ–104
(2) पं0 सोमेश्वर/मानसोल्लास/अध्याय–16/विशांति–4 तृतीय भाग/श्लोक–845
(3) पं0 सोमेश्वर/मानसोल्लास/अध्याय–16/विशांति–4 तृतीय भाग/श्लोक–847–848
(4) पं0 सोमेश्वर/मानसोल्लास/अध्याय–16/विशांति–4 तृतीय भाग/श्लोक–854–871

विराम शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके द्वारा सिद्ध होता है कि मानसोल्लास ग्रन्थ में ताल लक्षणों के संदर्भ में प्लुत, गुरू, लघु, द्रुत व बिन्दु इन सभी अंगों के साथ विराम का भी प्रयोग हुआ है। जगदेकमल द्वारा भी अपने ग्रन्थ संगीत चूड़ामणि में चार अंगों का प्रयोग कहा है, द्रुत, लघु, गुरू तथा प्लुत और उनके काल माप इस प्रकार कहे है, आधी मात्रा का द्रुत, एक मात्रा का लघु, दो मात्रा का गुरू अतः तीन मात्रा का प्लुत। इन अंगों के अतिरिक्त संगीत चुड़ामणि में 101 तालों में विराम शब्द का प्रयोग लघु तथा द्रुत के साथ किया है। जगदेकमल द्वारा कहा गया है कि विराम का योग जिस अंग के साथ भी होता है उसका काल मान ड़ेढ गुना ज्यादा हो जाता है।

द्रुत दयं विरामान्त क्रीडा ताले प्रकीर्तितय।

अर्थात् दो द्रुत के साथ विराम का प्रयोग हो तो क्रीडा ताल बनता है। उन्होंनें इस प्रकार स्पष्ट किया है। 0 0 क्रीडा ताल मात्रा=$1\frac{1}{4}$ । यहाँ द्रुत विराम का मान $\frac{3}{4}$ मात्रा कहा है।[(1)]

नारद कृत संगीत मकरन्द प्रथम ऐसा ग्रन्थ है, जिसके अर्न्तगत ताल तत्वों के लिए प्राण संज्ञा का प्रयोग किया गया है तथा अवयवों के स्थान पर अंग शब्द का प्रयोग किया है। संगीत मकरन्द में पाँच अंगों का वर्णन किया गया है– अणुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरू तथा प्लुत। इस ग्रन्थ में अंगों को देवता संदर्भ में भी जोडा गया है–जैसे द्रुत के लिए शम्भू, लघु की देवी गौरी, गुरू के शिव तथा गौरी, तथा प्लुत के लिए त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु ताा महेश।

अनुद्रुतों द्रुश्चैव लघुर्गुरूस्तमः परम्।
प्लुतश्चेति कमेर्णव तालांगानि च पंचमां।
द्रुतस्य देवता शभुर्लघोश्चाद्रियते सुता।।
गौरी च श्रीतश्चापि गुरोः प्लुते ब्रह्मादयस्त्रयः।।[(2)]

संगीत रत्नाकर में भी चार अंगों का वर्णन किया गया है–द्रुत, लघु, गुरू तथा प्लुत। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में 120 देशी तालों के अर्न्तगत विराम को भी प्रयुक्त किया गया है। शारंगदेव ने अंगों के संकेत इस प्रकार बताए है।

द्रुतेबिन्दुविरामान्ते तत्का मात्रायुतालिपिः।
प्लुते मात्रायुतो वक्रो लिपौ श्रीशार्ंगिणोदितः।।[(3)]

---

(1) पं0 जगदेकमल/चुड़ामणि/तालप्रकरण/श्लोक–105
(2) पं0 नारद/संगीत मकरन्द/नृत्याध्याय/तृतीयपद/श्लोक–74
(3)चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद)/पं0 शारंगदेव–संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–259–260

शारंगदेव ने 120 देशी तालों के अंगों को स्पष्ट करने हेतु अंगों के संकेत चिन्ह में प्रत्येक अंग के प्रथम अक्षर को दिया है, जैसे–द्रुत का (द), लघु से (ल), गुरू का (ग), प्लुत से (प)।

गुर्वाघाञचतुश्रादिः खण्ड़यित्वा निवेशेताः।
यद्वालघ्वदिखण्डाना महधिक्यमिह द्दश्यते।।

तेनैषां खण्डतालत्वमभाषन्त पुरातनाः।
द्रताद्याद्यखरौर्ज्ञेयं सत्ति संज्ञान्तराण्यति।।[(1)]

कल्लिनाथ द्वारा इस श्लोक को ज्यादा स्पष्ट रूप में प्रकट किया है।

द्रुतादि द्रुतलघुगुरूप्लुताः आद्यक्षैः स्वनामाक्षरैः द्रुतस्द आघक्षरम 'द' इति लघोराद्यक्षरम 'ल' इतिः गुरोराद्यक्षरम 'ग' इति प्लुतस्याद्यक्षरम 'प' इति वक्ष्यमाणेषु लक्षणवाक्येषु स्थ्सितैरेतैरेक्षरैः द्रुतादि ज्ञेयं भवति।।[(2)]

संगीत रत्नाकर के अर्न्तगत पाँच लघु अक्षर के उच्चारण काल मान को मार्गी तालों के संबधं में एक मात्रा का कहा है। उन मात्राओं की तुलना के लिए लघु, गुरू तथा प्लुत को माना है।

पञ्च्लघ्वक्षरोच्चारमिता मातेह कथ्यते।
अनया मात्रयात्र स्यात् लघुगुर्वादिकल्पना।।[(3)]

अर्थात्–पाँच लघु अक्षर का लघु, दस लघु अक्षर का गुरू तथा पंद्रह लघु अक्षर का प्लुत। संगीत समय सार में काल मान के लिए दो भेद कहे है। मनोगा तथा हस्तगा, जो मानगति मनोगा के अर्न्तगत अति है। उसमें उन्होनें आठ क्षणों का लव आठ लवों की एक काष्ठा, आठ निमेंष का एक काल, चार कालों से एक त्रुटि, दो त्रुटियों से एक अर्धद्रुत, दो अर्धद्रुतों के द्वारा एक बिन्दु और दो बिन्दुओं के योग से एक लघु फिर दों लघुओं से एक गुरू तथा तीन लघुओं से एक प्लुत इसका काल मान निर्धारण किया है।

संगीत समयसार लगभग संगीत रत्नाकर का समकालीन ग्रन्थ (तेरहवी शताब्दी) माना जाता है। इस ग्रन्थ के अर्न्तगत काल अंगों का सूक्ष्म अतः वृहद रूप को किया गया है।[(4)] संगीतोपनिषत्सारोद्धार 14वीं शताब्दी का ग्रन्थ है, जिसके रचियता सुधाकलश है। इसके अर्न्तगत उन्होनें चार अवयवों (अंगों) का वर्णन किया है।

---

(1) चौधरी सुभद्रा(अनुवाद) / पं0 शारंगदेव–संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–254–256
(2) पं0 कल्लिनाथ / कलानिधि / अध्याय–5 / श्लोक–138
(3) चौधरी सुभद्रा(अनुवाद) / पं0 शारंगदेव–संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–16
(4) पाण्ड़े सुधांशु / ताल प्राण / पृ0–127

कालमानकरस्तालश्चतुद्धा स द्रुतादिभिः।
द्रुतोलघुर्गुरूश्चैव प्लुत संज्ञाथ तुद्धवा।।[1]

सुधाकलश ने इस ग्रन्थ के अर्न्तगत इन अवयवों के इनकें चार व पाँच पर्यायवाची भेंद कहे है।

द्रुतादीनां च तुर्णा स्पुः पञाकिधात्क्रमात्।
बिन्दुकं च द्रुतं व्योम व्यञ्जनं चुर्द्धमात्रिकम्।।

व्यापकः सरलो हस्वो लघुर्मात्रिक इत्यापि।।
गुरूदीर्घस्ताया वक्तः कला चैव द्विमात्रिकः।।[2]

अर्थात्– द्रुत के पयार्यवाची बिन्दु, द्रुत, व्योम, व्यंजन तथा अर्धमात्रा। लघु में व्यापक, सरल, हस्व, लघु तथा मात्रिाक और गुरू के दीर्घ, वक्र, कला और द्विमात्रिक। उसी प्रकार तीन मात्रा वाले प्लुत अंग के में दीप्त, त्र्यंग और सामोद्धव। 17 शताब्दी पं0 दामोदर द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत दर्पण के ताल अध्याय अर्न्तगत अणुद्रुत, द्रुत, द्रुतविराम, लघु, लघुविराम, गुरू तथा प्लुत इस तरह से सात प्रकार के अंग कहे है। इन अंगों की उत्पत्ति पं0 दामोदर ने पंचतत्वों द्वारा माना है। वायु से अणुद्रुत, जल से द्रुत, द्रुतविराम की उत्पत्ति वायु तथा जल द्वारा कही है, अग्नि द्वारा लघु, जल तथा अग्नि के द्वारा लघुविराम, गुरू की उत्पत्ति आकाश से मानी है तथा प्लुत को पृथ्वी द्वारा उत्पन्न बताया है।[3] मध्यकाल में जिन ग्रन्थों में अंग के सात भेंद अणुद्रुत, द्रुत, द्रुतविराम, लघु, लघुविराम, गुरू तथा प्लुत के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चाकी गयी है व सभी ग्रन्थों में इन सात अंगों के समानार्थी शब्द, देव, चिन्ह, क्रिया आदि को स्पष्ट किया गया है।

प्राचीन काल तथा मध्यकाल में लघु का मान सुनिश्चित था मार्गी तालों के अर्न्तगत जो पाँच लघु होते थे, उनका उच्चारण का समय अर्थात् काल एक मात्रा का माना गया है तथा देशी तालों के अर्न्तगतलघु को चार तथा छः अक्षरों का माना है। ताल चंद्रिका में सात अलंकारों के साथ जो ताल प्रयोग होते है उनमें लगने वाले लघु का मान पाँच जातियों– चतुरस्त्र, त्र्यस्त्र, खण्ड़, मिश्र तथा संकीर्ण के अनुसार कहा है। इस ग्रन्थ में अणुद्रुत तथा द्रुत का जो मान बताया है, वह पूर्व के ग्रन्थों के अनुसार एक तथा दो अक्षर का निश्चित है, किन्तु गुरू का प्रमाण लघु से दुगना का होगा। वर्तमान दक्षिण ताल पद्धति के अर्न्तगत जो पैंतिस तालों

(1)पं0 सुधाकलश/संगीतोपनिषत्सारोद्धार/अध्याय–2/श्लोक–7
(2)पं0 सुधाकलश/संगीतोपनिषत्सारोद्धार/अध्याय–2/श्लोक–8
(3) पं0 दामोदर/संगीत दर्पण/अध्याय तालाध्याय/श्लोक–668, 669, 670

वर्णन किया गया है, ताल चन्द्रिका ग्रन्थ में इन पैंतिस तालों के प्राचीन विकास का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।वर्तमान समय में उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में अंगों का पूरी तरह से लोप हो चुका है। वर्तमान में केवल लघु के समानार्थक शब्द मात्रा का ही इकाई के रूप में उपयोग होता है, जिसका काल प्रमाण कुछ भी हो सकता है। जिस प्रकार प्राचीन मार्गी तथा देशी तालों में लघु का मान चार, छः या पाँच लघु अक्षरकाल को मात्रा कहा जाता था, आधुनिक समय में उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में अंग के स्थान पर विभाग शब्द का प्रयोग होता है।

उत्तर भारतीय संगीत पद्धति के अर्न्तगत 18 वीं शताब्दी के आस–पास कई महान परिवर्तन देखे गए है। इस शताब्दी के मुख्य परिवर्तन के रूप में ख्याल गायकी, तन्त्री वाद्यों की गतों के भागों में स्थायी के अर्न्तगत एक आवर्तन को बार–बार दोहराने की प्रक्रिया गायन–वादन में आरम्भ हुयी तथा इस काल में ताल के ठेको का उद्भव हुआ। इस शताब्दी के पूर्व 15वीं शताब्दी में सुधाकलश द्वारा रचित ग्रन्थ संगीतोपनिषत्सारोद्धार में ठेका शब्द का प्रयोग मिलता है। ठेके शब्द की उत्पत्ति भारतीय संगीत में एक महान घटना है।जिसके द्वारा ही भारतीय संगीत दो अलग–अलग पद्धतियों के रूप में जाना जाने लगा। उत्तर भारतीय संगीत पद्धति तथा दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति। इससे पूर्व ताल के ठेको की जगह तालों की मात्राओं को भागों में बाटनें के लिए अंग या काल अवयव को प्रयोग में लाया जाता था। वर्तमान समय में ताल पद्धति के अर्न्तगत प्राचीन ताल पद्धति के अंगों के अनुसार बोल समूह निश्चित कर ठेके की रचना की। इस निर्धारित बोल समूह को छंद रूप में ताल खण्डों में बांटा गया, जिसको विभाग की संज्ञा दी, परंपरा से चला आ रहा अंग तथा वर्तमान मात्रा का यह दो अवस्थाओं के मिलनें का समय था। श्रंखला के इस अवस्था में लघु का मान चार, पाँच या छः लघु अक्षरों से परिवर्तकर लघु की मात्रा चार मात्रा नियुक्त की गयी।

20वीं शताब्दी के लगभग मध्य तक उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में कभी मात्रा व कभी अंगों में ताल का स्वरूप देखने को मिलता है।[1] उसके पश्चात् उत्तर ताल पद्धति में अंगों के प्रयोग का लोप हो गया। वर्तमान समय में दक्षिण पद्धति में अंगों का प्रयोग अभी भी होता है, परन्तु उनकी प्रयोग विधि बदल चुकी है। लघु का माप जाति पर आधारित है। कर्नाटक

(1) गुलशन सक्सेना / भारतीय ताल में अनेकता में एकता की खोज / पृ0–88

ताल पद्धति में जो सात तालों का वर्णन है, उनमें लघु में पाँच जाति के योग पर 35 तालें बनी है, इसके अतिरिक्त कर्नाटक पद्धति में लघु में गति भेंद द्वारा इन 35 तालों के और 175 तालों की निर्मिति होती है। इसके अलावा लघु के पाँच अन्य भेंद कहे है। दिव्यलघु, सिंहलघु, वर्णलघु और कर्नाटक लघु। उड़ीसी संगीत में तालों के लक्षणों के अर्न्तगत अंगों का प्रयोग तो किया जाता है, परन्तु ताल का प्रयोग मात्रा तथा विभाग आधार पर ही होता है। मणिपुरी संगीत में अंगों के स्थान पर सरूक शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन आधार का परिर्वतन रूप है। उत्तर भारतीय ताल पद्धति में अंग के स्थान पर विभाग का उपयोग वर्तमान में होता है। इस प्रकार हम देखते है कि कभी तो सिर्फ नाम, कभी जो नाम नहीं परन्तु वही रूप तो कभी बिना नाम के कुछ अंश मार्गी संगीत से देशी में देशी से आज वर्तमान में कुछ न कुछ अवशेष उत्तर भारतीय पद्धति में विद्यमान है। जिसे हम कह सकते है कि वर्तमान समय में तीनताल के चार अंग है इसमें तीन ताल को वर्तमान में अंगों के अनुसार इस प्रकार लिख सकते है–

धा	धिं	धिं	धा	धा	धिं	धिं	धा	धा	तिं	तिं	ता	ता	धिं	धिं	धा
X				2				0				3			

4:2:5 ग्रह– साधारणतः ग्रह का अर्थ होता है, पकडना या ग्रहण करना, संगीत में गीत, वाद्य एंव नृत्य जिस स्थान से ताल को पकडती है या ग्रहण करती है, उसे ग्रह कहते है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा ग्रह को पाणि शब्द से सम्बोधित किया है। जब की भरत मुनि ने स्वराध्याय के अर्न्तगत जाति गान में 18 जातियों का वर्णन किया है तथा उनको जो दस लक्षणों का उल्लेख किया, एसमें भरत मुनि द्वारा ग्रह शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ भी ग्रहण करना या उठान से है। भरत मुनि ने जाति गान के विषय में ग्रह शब्द का प्रयोग किया है। उस पारिभाषिक शब्द ग्रह और ताल के संदर्भ में ग्रह शब्द दोनों एक–दूसरें के पयार्य प्रतीत होते है। इस प्रकार दोनों का अर्थ एक होते हुए भी भरत मुनि ने अलग–अलग संज्ञा दी है। भरत मुनि ने ताल के विषय में ग्रह को पाणि शब्द से वर्णित किया है। संस्कृत शब्द कोश ने पाणि का पयार्य ग्रह ही दिया गया है अर्थात् दोनों शब्द समानार्थक है और दोनों मुख्य काम संगीत के विषय में ग्रहण करना है। संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य, इन तीनों में ताल का प्रारम्भ दो तरह से हो सकता है– पहला ताल, गायन, वादन तथा नृत्य के स्थान आरम्भ हो और दूसरा ताल का उठान, एक साथ न होकर आगे पीछे हो। इस प्रकार

इसके दो प्रकार बने– सम तथा विषम। सम में गानादि के साथ ताल प्रारम्भ होता है और विषम में ताल आगे पीछे आरम्भ होता है। भरत मुनि ने गीत तथा वाद्य विषयक जो पाणि कहा है, उसके तीन प्रकार कहे है–समपाणि, अवपाणि तथा उपरिपाणि।

समपाणिश्च विज्ञेयो ह्यवपाणिस्तथैव च।
तथैवोपरिपाणिश्च गीतवाद्यसमाश्रयः (याः)।।[1]

भरत मुनि द्वारा तीन प्रकार के पाणि के लक्षण भी बताए है– समपाणि को बताते हुए भ्ज्ञरत मुनि ने कहा है कि जब गीत और वाद्य का एक साथ उठान हो समपाणि कहलाता है तथा ताल का आरम्भ गीत के आरम्भ होने के पश्चात् आरम्भ तो वह अवपाणि कहते है और ताल आरम्भ होने के बाद जब गीत आरम्भ हो तो वह उपरिपाणि कहा जाता है। दत्तिल मुनि कृत दत्तिलम् में भी पाणि के तीन भेंद सम, उपर्यव तथा पूर्व कहे है।

समोपर्यवपूर्वस्तु पाणिस्त्रिविध इष्यते।[2]

नरद कृत संगीत मकरन्द के नृत्याध्याय के तृत्य पाद में नारद द्वारा ग्रहों के लक्षण बताते हुए उल्लेख किया है कि ताल का आरम्भ पहले और गीत का बाद में आरम्भ हो तो अनागत ग्रह कहा जाता है। गीत पहले और ताल का अरम्भ बाद में हो तो अतीत ग्रह और दोनों का उठान साथ में हो तो समग्रह कहा जाता है।

ग्रहास्त्रिथा समा नीतास्तथानागत इत्यापि।
तल्लक्षणं च वक्ष्याति नारदों मुनिपुंगवः।।

निकातीते त्वतीतस्य तालातीते त्वनागतः।।
समः समग्रहः प्रोक्तस्तालज्ञैः पूर्वसुरिभिः।[3]

संगीत रत्नाकर में भी तीन प्रकार के ग्रह बताए है–सम, अतीत तथा अनागत। **समोऽतीताऽनागतश्च ग्रहस्ताले त्रिधा मतः।**[4] शारंगदेव द्वारा इन प्रकारों में ग्रह का विषम प्रकार नहीं कहा है, परन्तु संगीत रत्नाकर के प्रबन्ध अध्याय में विषम का उल्लेख किया है–**ग्रहस्तु विषमों भवेत्।**[5] संगीत रत्नाकर में पाणि तथा दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है।

(1) अभिनव गुप्त / नाट्यशास्त्रम् टीका–अभिनव भारती / अध्याय–31 / श्लोक–373
(2) पं0 दत्तिल / दत्तिलम् / ग्रन्थांक–102 / श्लोक–152 / पृ0–15
(3) पं0 नारद / संगीत मकरंद / नृत्याध्याय–तृतीयपाद / श्लोक–74
(4) चौधरी, सुभद्र(अनुवाद) / शारंगदेव–संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–50
(5) चौधरी, सुभद्र(अनुवाद) / शारंगदेव–संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–39

गीतादिसमकालस्तु समपाणिः समग्रह।
सोऽवपाणिश्तीतः स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तते।
अनागतः प्राक्प्रवृतग्रहस्तू परिपाणिकः।(1)

अर्थात्– जब गायन, वादन, नृत्य और ताल एक साथ आरम्भ हो तो वह सम पाणि या समग्रह कहा जाता है तथा जो गीतादि का आरम्भ हो और ताल का आरम्भ उसके बाद हो उसे उपरिपाणि या अनागत ग्रह कहा जाता है तथा गीत के पूर्व जब ताल का उठान हो तो उसे अवपाणि या अतीत ग्रह समझना चाहिए।

जगदेकमल्ल द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत चूडामणि में पाणि के स्थान पर ग्रह शब्द का प्रसोग किया गया है। जगदेकमल्ल ने अपने ग्रन्थ के अर्न्तगत ग्रह के तीन प्रकार कहे है–सम, अतीत तथा अनागत।

ग्रहस्त्रिधा सतोऽतीतस्तभाऽनागत इत्यपि।।(2)

ग्रन्थ में सम ग्रह का वर्णन करते हुए कहा है कि जब गीतादि का प्रारम्भताल के साथ हो तो उसे समग्रह कहा जाता है।

गीते वाद्ये च नृत्ते (त्ये) च (सममेवी) प्रवर्तते।
यस्तालः स च विज्ञेया समग्रह समाहयाः।।(3)

अतीत ग्रह में गीत, वाद्य तथा नृत्य आरम्भ होने के कुछ क्षण पहले ताल को ग्रहण किया जाए तो अतीत ग्रह होता है।

किञ्चद्गीते समारब्धे वाद्ये नृत्तेऽथवा पुनाः।
ग्रहणं यत्र तालस्य सोऽतीतग्रह इष्यते।।(4)

अनागत का वर्णन बहुत स्पष्ट नहीं हुआ है–

योऽलंकारेण गीते स्यात् तकारेण य वादने।
नृत्येऽगंवर्तनैस्साध्र्द स तालोऽनागतग्रह।।(5)

संगीत समयसार के अर्न्तगत पार्श्वदेव ने ग्रह के तीन प्रकार ही कहे है, समग्रह, अतीत ग्रह तथा अनागत ग्रह संगीत समयसार लगभग संगीत रत्नाकर ही समकालीन ग्रन्थ कहा जाता है। पार्श्वदेव द्वारा ग्रह का वर्णन संगीत चूडामणि के समा नही किया गया है।

---

(1) चौधरी सुभद्र(अनुवाद) / शारंगदेव–संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–51–52
(2)पं0 जगदेकमल्ल / संगीत चूडामणि / ताल प्रकरण / श्लोक–54
(3)पं0 जगदेकमल्ल / संगीत चूडामणि / ताल प्रकरण / श्लोक–55
(4) पं0 जगदेकमल्ल / संगीत चूडामणि / ताल प्रकरण / श्लोक–56
(5)पं0 जगदेकमल्ल / संगीत चूडामणि / ताल प्रकरण / श्लोक–57

ग्रहस्त्रिधा समोतीतस्ततथा नागत इत्यपि।
गीतं वाद्ये य नृत्ये च सममेव प्रवर्तते।।[(1)]

14वीं शताब्दी में रचित ग्रन्थ संगीतोपनिषत्सारोंद्धार में सुधाकलश ने पूर्व ग्रन्थकारों की तरह ही ग्रह के तीन प्रकार बताए है, परन्तु ग्रह के लक्षण इतने स्पष्ट नहीं है। इस ग्रन्ळा के अर्न्तगत द्वितीय अध्याय में ग्रहों के लक्षण 18 से 20 तक के श्लोकों में प्राप्त होते है। 16वीं शताब्दी में रचित ग्रन्थ रस कौमुदी में पं0 श्रीकंठ द्वारा ग्रह के चार भेंद कहे है—सम, अतीत, अनागत और विषम।

ताले चत्वारि विज्ञेया ग्रहास्त्र्थविचक्षणैः।
समोऽतीतोऽनागतज्ञच विषमश्च् क्रमादिति।।[(2)]

जो चार प्रकार के ग्रह श्रीकंठ द्वारा कहे गए है। वह मूल केवल दो ही ग्रह है— सम और विषम। अनागत और अतीत विषम के ही प्रकार है। इस प्रकार से कुल संख्या को मिलाकर ग्रहों के चार प्रकार बताए है विषम ग्रह के लिए कोई नियम नहीं कहे है। विषम ग्रह को अतीत तथा अनागत से सम्बंधित माना है। ग्रहों के लक्षण पूर्व ग्रन्थकारों के समा नही को है।

गीतादिसमकाले तु धातों योऽसौ समग्रहः।
गीतादौ विदिते पश्र्चादतीतस्ताल धाततः।।
अनागते तु प्राक् ताल धातों गीतादिकस्ततः।।[(3)]

अर्थात्— गायन, वादन, नृत्य और ताल का जब एक साथ आरम्भ होता है, तो उसे समग्रह समझान चाहिए, उसी प्रकार गीतादि के बाद ताल आरम्भ हो उसे अतीत का आरम्भ हो तो अनागत ग्रह कहा जाता है।

पं0 दामोदर द्वारा अपने ग्रन्थ संगीत दर्पण के अर्न्तगत पूर्व ग्रन्थों को तुलना में ग्रह का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया है। ग्रन्थ में सम, अतीत तथा अनागत ग्रह के वर्णन के साथ विषय ग्रह का वर्णन किया है।

समोऽतीतोऽनागतश्च विषमश्च ग्रहामताः।
चत्वारः कथितास्ताले सुक्ष्मदृष्टया विचक्षणैः।।[(4)]

---

(1) पं0 पार्श्वदेव / संगीत समयसार / परिशिष्ट'क' / पृ0—262
(2) पं0 श्रीकंठ / रस कौमुदी / चतुर्थ अध्याय / श्लोक—123
(3) पं0 श्रीकंठ / रस कौमुदी / चतुर्थ अध्याय / श्लोक—124—125
(4) पं0 दामोदर पंड़ित / संगीत दर्पण / तालाध्याय / श्लोक—291

ग्रन्थ के अर्न्तगत कहा गया है कि जिस ग्रह में आरम्भ तथा समापन का कसे नियम नहीं होता वह विषय ग्रह कहलाता है। इसके भी ग्रन्थ में भेंद कहे गए है– ताल, विताल, अनुताल एंव प्रतिताल।

आद्यन्तयोरनियमः विषमग्रहशब्दभाक।
तालोवितालोनुताल प्रतितालश्चतुर्विधः।।[1]

नाट्यशास्त्र काल से लेकर मध्यकाल काल तक से सभी ग्रन्थों के अर्न्तगत ग्रह शब्द का वर्णन तथा धारणा एक जैसी ही प्रतीत होती है। सभी ग्रन्थकारों ने गायन के संदर्भ में वाद्य तथा ताल की उठान से ही उल्लेख किया है। गजपति नारायणदेव द्वारा 18वीं में रचित ग्रन्थ संगीत नारायण जो ग्रह के अवलोक से विलक्षण एंव गणमान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अर्न्तगत ग्रह के समान अर्थों से युक्त शब्द ''मान'' शब्द से स्पष्ट किया है। मान की अवस्था ग्रन्थ में नवीन है जो और किसी ग्रन्थ में नहीं है। ताल का समापन करने की क्रिया को मान कहा जाता है। अतः ताल के आरम्भ में ग्रह और समापन में मान संज्ञादि है। उत्तर भारत की वर्तमान ताल पद्धति में बताए गए दो ग्रह मान के प्रतीक है, जो अनागत तथा अतीत ग्रह कहे जाते है। चूँकि संगीत नारायण के अर्न्तगत ताल की प्रथम मात्रा को ही मुख्य मानते हुए अतीत तथा अनागत ग्रहों के लक्षण कहे है। उन्होनें मान के दो प्रकार कहे है– वर्धमान तथा हीयमान। वर्धमान को गीत की पहली मात्रा सम समझना चाहिए तथा वर्तमान में अतीत और अनागत को हीयमान कह सकते है।[2] नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में ग्रह को पाणि कहा है, जिसका अर्थ ग्रहण करना है। इसका वर्णन इसी अध्याय में पहले भी प्रस्तुत किया जा चुका है। वर्तमान संगीत में भी ग्रह शब्द का अर्थ उस स्थान से है जहाँ से गायन या वादन प्रारम्भ होता है। जिसमें गीत और उसके साथ ताल उठाने के विभिन्न रूपों को ग्र के समकक्ष कहा जा सकता है। वर्तमान में भी नाट्यशास्त्र निदृष्ट ''पाणि'' जिसे आज 'ग्रह' कहा जाता है, उसके तीन प्रकार कहे है–सम ग्रह अर्थात् सम पाणि, अनागत ग्रह अर्थात् उपरिपाणि तथा अतीत ग्रह अर्थात् अव पाणि। जब गीत, वाद्य ताथ ताल एक साथ आरम्भ हो तो उसे सम ग्रह समझना चाहिए। गीत तथा वाद्य के आरम्भ होने के पश्चात् जब ताल का उठान हो तो

(1) पं0 दामोदर पंड़ित/संगीत दर्पण/तालाध्याय/श्लोक–295
(2) नारायणदेव गजपति/संगीत नारायण/पृ0–73

वह अतीत ग्रह कहा जाएगा तथा जब ताल का उठान गायन वादन से पहले आरम्भ हो तो वह अनागत ग्रह कहा जाएगा यह उल्लेख भी भरत निदृष्ट नाट्यशास्त्र में वर्णित है।

समपाणिश्च विज्ञेयो हम्वपाणिस्तथैव च।।
तथैवोपरिपाणिश्च गीत वाद्य समाश्रयः या।।[(1)]

वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत के छोटे ख्याल में एकताल तथा झपताल में अधिकतर बंदिशे तथा तीनतान की कुछ बंदिशें सम से आरम्भ होती है। तथापि उन्हें सम ग्रह कह सकते है, क्योंकि उनमें गीत तथा होथ की ताली का आरम्भ एक साथ होता है, जबकि तबले का आरम्भ गीत के साथ नहीं होता, गीत के एक आवर्तन परा होने के पश्चात् ही तबला आरम्भ होता है। फिर भी उसे सम ग्रह कहा जाता है। यह धारणा भी नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा कही गई है। गाने का एक आवर्तन का आरम्भ अवनद्ध वाद्य के बिना होना चाहिए तथा ताल का ग्रहण अन्तिम मात्रा पर सन्निपात जो वर्तमान में सम के समान है, उससे होनी चाहिए।

लयेनयत संमवाद्यं समपाणिः प्रकीर्त्यते।
ध्रुवाद् यदवकृष्टं स्यात् सोऽवपाणिः प्रकीर्तित।।
लयस्योपरि यद्वाघं पाणिः स उप(सोपरि) इ(रि) ष्यते।
ततः (त्र) स्थिति (त) लयो यो वै सन्निपातो विधीयते।।[(2)]

गायन प्रस्तुत करते समय गायक बीच–बीच में लय में कौतुहल (मनोरंजकता) के लिए गीत के अक्षरों व स्वरों में विषम घात (ताल) प्रयोग करते है। इसकी संगत करते हुए अवनद्ध वाद्य वादक गीतों के छंदों के अनुरूप वादन कर गायक को उत्तर देता है तथा कई बार जिस स्थान पर आघात द्वारा सम स्थान के बदलने पर भी गीत के अर्न्तगत ग्रह भेद को दर्शाना सम्भव होता है। गौड़सारंग राग ताल तीनताल की छोटे ख्याल की बंदिश उदाहरण स्वरूप–

सम ग्रह

म म रे सा	– रे सा सा	ग रे म ग	प म ध प
प ल न ला	ऽ ग मो री	अ खि याँ ऽ	आ लि बि न
0	3	X	2

(1) मिश्र ब्रजवल्लभ(अनुवाद) / नाट्यशास्त्र / श्लोक–373
(2) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका–भरत नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / श्लोक–374–375

अतीत ग्रह (सम के पश्चात् बंदिश का सम)

म म रे सा	– रे सा सा	– ग रे मग	प म ध प
प ल न ला	ऽ ग मो री	– अ खि यँाऽ	आ लि बि न
0	3	X ↓	2
		(बंदिश का सम)	

अनागत ग्रह(सम के पूर्व बंदिश का सम)

म म रे सा	– रे सासा ग	– रे म ग	प म ध प
प ल न ला	ऽ ग मोरी अ	– खि यँा ऽ	आ लि बि न
0	3 ↓	X	2
	(बंदिश का सम)		

नाट्यशास्त्र के काल में अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग एकल वाद्य के रूप नहीं होता तथा इनका उपयोग केवल गीतादि में संगत वाद्य के रूप में होता था। वर्तमान समय में अवनद्ध वाद्यों को संगत के साथ–साथ अब इनमें स्वतन्त्र वादन भी किया जाने लगा। उत्तर भारतीय ताल वाद्यों में ग्रहों का उपयोग उनकी बंदिशें में देखने को मिलता है। वर्तमान ताल पद्धति में ज्यादातर बंदिशें सम ग्रह की होती है। अनागत और अतीत ग्रह की बंदिशों का प्रयोग भी स्वतन्त्र वादन में कुछ विद्वान कलाकारों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। ग्रह के अर्थ को वर्तमान संगीत में समझने के लिए इन बंदिशों के उदाहरण से स्पष्ट हो सकता है।

बंदिश सम ग्रह (तीनताल)-

धागेतिट धागेतिट तागेतिट तागेतिट	क्ड़धातिट धागेतिट गदिगन नागेतिट
X	2
कतिटता किनताऽ किटधिकि टधाऽन	धाऽत्तिऽ धाऽधाऽ त्तिऽधाऽ धाऽत्तिऽ
0	3

धा धिं धिं धा	- - - - -
X	2

अतीत ग्रह (तीनताल)-

धा धिं धिं धा	धा धिं धिं धा	धा तिं ति ता	ता धिं धिं धा
x	2	0	3

अतीत

ऽऽधागे	तिटधागे	तिटतागे	तिटतागे	तिटकड़धा	तिटधागे	तिटगदि	गननागे
x				2			
तिटकति	टताकिन	ताऽकिट	धिकिटधा	ऽनधाऽ	तिऽधाऽ	धाऽत्तिऽ	धाऽधाऽ
0				3			

त्ति धा धिं धिं धा

x ↓

(सम बीतने के बाद बंदिश का सम)

अतीत

अनागत ग्रह

धा धिं धिं धा	धा धिं धिं धा	धा तिं ति ता	ता धिं धिं ऽऽधागे
x	2	0	3 अनागत

तिटधागे	तिटतागे	तिटतागे	तिटकड़धा	तिटधागे	तिटगदि	गननागे	तिटकति
x				2			
टताकिन	ताऽकिट	धिकिटधा	ऽनधाऽ	त्तिऽधाऽ	धाऽत्तिऽ	धाऽधाऽ	त्तिधाऽ
0				3			x

↓

(सम से पूर्व बंदिश का सम अनागत)

– धिं धिं धा

X

वर्तमान उत्तर भारतीय ताल पद्धति में पाणि शब्द के स्थान पर ग्रह शब्द का प्रयोग होने लगा है। वर्तमान संगीत में ग्रह की धारणा पूर्णतः बदल गयी है। वर्तमान परिपेक्ष्य में मान्यता है कि जिस समय बंदिश का सम तथा ताल का सम एक साथ एक समय पर प्राप्त कर स्थान सम ग्रह कहलाता है। अतीत ग्रह के लिए वर्णन है कि जब ताल का सम बीत चुका हो, उसकी आधी मात्रा पश्चात परन्तु दूसरी मात्रा से पहले जब बंदिश का सम दर्शाया जाए वह अतीत ग्रह कहलाएगा तथा ताल का सम आने से पूर्व परन्तु अन्तिम मात्रा के कुछ क्षण पश्चात् सम दिखाया जाए तो वह अनागत ग्रह कहलाएगा। इन सभी तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् शोधार्थी का मानना है कि नाट्यशास्त्र के लक्षण परम्परा के कुछ अंश आज भी वर्तमान संगीत में प्रयोग होते है, परन्तु धारणाएँ बदल गयी है तो नाम जीवित है तो कही शब्द बदल गए है, परन्तु लक्षण समान है।

4:2:6 जाति– 'जन' धातु में त्रिन् प्रत्यय के योग से जाति शब्द की उत्पत्ति मानी गयी है। जाति शब्द का अर्थ होता है जन्म के अनुकूल सत्ता तथा किसी श्रेणी वह विशिष्ट प्रवीणता जो उसे दूसरें वर्गों से अलग करती है, उसे जाति कहा है। इस दृष्टिकोण से जब ताल को जाति के संदर्भ में देखते है तो उसे दृष्टि से जाति ताल के संदर्भ में गति होती है। किसी भी ताल के खण्डों में जो मात्राओं की संख्या कम–ज्यादा होती है जिससे उसकी गति में अन्तर आ जाता है। उसी को जाति कहा जाता है। भरत मुनि ने ताल के विषय में जाति शब्द का उपयोग नहीं किया है, फिर भी भरत नर्दिष्ट नाट्यशास्त्र जो तालों के भेंद बताए है। वह जाति के समानार्थक कह सकते है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा मुख्य दो तालों का वर्णन किया गया है–चतुरश्र तथा त्र्यश्र। इन दोनों तालों का उद्भव व संचालन साम्य है।

चतुरस्त्रष्च त्र्यस्त्रष्च तालो द्विविध एव हि॥
द्विविधस्यापि तालस्य चैका प्रकृतिरिष्यते ॥।॥[(1)]

इन दोनों भेदों को चच्चत्पुट तथा चाचपुट ताल द्वारा स्पष्ट किया है। चच्चत्पुट को चतुरश्र, चाचपुट को त्र्यश्र ताल कहा है।

चतुरश्रस्तु विज्ञेयस्तालश्चच्चपुटो बुधैः।।[(2)]

नाट्यशास्त्र में इन दोनों भेंदों के अन्य दो भेद और कहे है, जो मिश्र तथा संकीर्ण कहलाए। मध्यकाल में इन दोनों के अतिरिक्त एक और खण्ड़ नामक भेद भी मध्यकालीन ग्रन्थकारों द्वारा कहा गया है। 12वीं शताब्दी में रचित ग्रन्थ मानसोल्लास में सोमेश्वर द्वारा इनमें ताल के चार भेद कहे है– चतुरश्र, त्र्यश्र, मिश्र और खण्ड़।

चतुरसा (स्श्रा) स्तथा त्र्यस्त्रा मिश्राः खण्डा भवन्ति हि।
एंव चतुवि (विं) धास्तालास्तेऽन न्ताः परिकीर्तिता।।[(3)]

संगीत मकरन्द के अर्न्तगत ताल भेदों को ''अथजातिः कश्यते'' द्वारा स्पष्ट किया गया है। **अर्थात्** ताल के भेदों को जाति शब्द के अर्थ द्वारा विवेचना की है। इस ग्रन्थ में ताल के चार प्रकार कहे है–चतुरश्र,त्र्यरश्र, मिश्र तथा खण्ड।

चतुरस्रस्तिसमिपस्तालं खंखाभिधे तथा।
चतुर्विधो भवेतालस्तत्स्वरूपं निरूप्यते।।[(4)]

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल (अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / श्लोक–7
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल (अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / श्लोक–8
(3) पं0 सोमनाथ / मानसोल्लास / अध्याय–16 / विशांति–4 नियत भाग / श्लोक–839
(4) पं0 नारद / संगीत मकरन्द / नृतयाध्याय–तृतीयपाद / श्लोक–78

शारंगदेव द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में तालों के दो भेद बताए है– चतुरश्र तथा त्र्यश्र। चच्चत्पुट, चतुरश्र जाति व चाचपुट त्र्यश्र जाति का कहा है।

चतुरश्रस्तथा त्र्यश्र इति तालों द्विधा मतः।
चच्वतपुटश्चाचपुट इति नाम्नी तयोः क्रमात्।।(1)

प्रस्तुत ग्रन्थ के अर्न्तगत शारंगदेव द्वारा युग्म अर्थात् चच्चत्पुट के तीन प्रकार तथा अयुग्म अर्थात् चाचपुट के छः प्रकार कहे है। इन सथी प्रकारों के मिश्रण द्वारा बहुत से संकीर्ण ताल की उत्पत्ति हुयी है।

युग्मस्य ये त्रयो भंदाः षडवायुग्मस्य कीर्तिताः।
तेषामन्योन्यसंगात्संकीर्णो बहवो मताः।।(2)

शारंगदेव ने ग्रन्थ में खण्ड नामक अन्य भेद का भी वर्णन किया है।

चच्वत्पुटादि भेदास्तु सन्ति खण्डाभिधा परे।(3)

चच्वत्पुट पुरातन से रचित खण्ड नामक दूसरे ताल होते है। खण्ड जिसका अर्थ होता है विभाग करना या टुकडे करना। संगीत रत्नाकर में 120 देशी तालों का वर्णन किया गया है। उनका निर्माण मार्गी तालों के अवयवों के खण्डन प्रणाली द्वारा माना है। इस कारण वश भी यह खण्ड ताल कहलाए।

अन्येऽपि सन्ति भुयांसस्तालास्ते लक्ष्यवर्त्मनि।

प्रसिद्धिविधुरत्वेन शास्त्रेऽस्मिस्त्र प्रदर्शिताः।।(4)

सिंहभूपाल द्वारा संगीत रत्नाकर की टीका में उन्होनें कहा हैं कि शारंगदेव को संकीर्ण ताल के अन्य प्रका स्वीकार थे। उन्होनें इस संकीर्ण भेंदों को चच्चत्पुट की तरह ताल के नाम न कहकर, उनको सात कला, नौ कला आदि संज्ञा से व्यक्त किया है। पं0 पार्श्वदेव द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत समयसार में चार तालों का वर्णन किया है– चतुरश्र, त्र्यश्र मिश्र तथा खण्ड।

अथ चित्रादि मार्गेषु स तालः स्याच्वतुर्विधः।
चतुरस़्स्ततथात्र्यस्त्रो मिश्रः खण्डश्च नामतः।।(5)

---

(1)चौधरी सुभद्रा (अनुवाद)/पं0शारंगदेव–संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–17
(2) चौधरी सुभद्रा (अनुवाद)/पं0शारंगदेव–संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–39
(3) चौधरी सुभद्रा (अनुवाद)/पं0शारंगदेव–संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–41
(4)चौधरी सुभद्रा (अनुवाद)/पं0शारंगदेव–संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–312
(5) पं0 पार्श्वदेव/संगीत समयसार/अध्याय–8/श्लोक–22

खण्ड के भी चार भेंद कहे है चतुरश्र, त्र्यश्र मिश्र तथा संकीर्ण।

खण्डोऽपि चतुरसाख्यः त्र्यस्त्रो मिश्रस्तथैव च।
संकीर्णश्चेति निर्दिष्टः चतुर्था तालवेदिभिः।।[(1)]

श्रीकठं द्वारा रचित ग्रन्थ रा कौमुदी के अर्न्तगत चतुरश्र, त्र्यश्र, मिश्र, खण्ड तथा संकीर्ण जिसे पूर्व के आचार्यों ने ताल भेद कहा है। इनको जाति की संज्ञा से सम्बोधित किया है अर्थात् इन्हें पाँच ताल की जातियाँ मानी है तथा इन पाँचों के वर्ण– चार, तीन, पाँच, नौ तथा सात कहे है। संगीत चूडामणि ग्रन्थ में ताल के चार भेंद कहे है। इस ग्रन्थ में भी इन भेदों को जाति शब्द से वर्णित किया गया है–चतुरश्र, त्र्यश्र, मिश्र तथा खण्ड।[(2)] 17वीं शताब्दीं में पं0 दामोदर द्वारा अपने ग्रन्थ संगीत दर्पण के अर्न्तगत ताल के दस प्राणों में जाति का वर्णन किया है। उन्होनें भी पाँच जातियाँ ही कही है–चतुरश्र, त्र्यश्र, मिश्र, खण्ड तथा संकीर्ण।

चतुरश्रास्तथात्र्यश्रा खण्डों मिश्रस्तथैव च।
संकीर्णः पंचविज्ञेया जातयः पंचधा बुधै।।[(3)]

विशेषतः संगीत दपर्ण में इन जातियों को मानव जातियों से युक्त किया है।

ब्रह्मण श्चतुरश्रः स्यात त्र्यश्रः क्षत्रिय एवचः।।
खण्डोवैश्य स्तथाशूद्रः मिश्रोज्ञेयो विचक्षर्णः।।
संकीर्णजातिस्संकीर्णः कथितास्तालवेदिभिः।।[(4)]

अर्थात्– बह्मण से चतुरश्र जाति के समान, त्र्यश्र जाति क्षत्रिय के समान, वैश्य का संबंध खण्ड जाति से, मिश्र जाति का सम्बन्ध शूद्र के समान तथा संकीर्ण जाति को संकीर्ण के समान कहा है। 14वीं शताब्दी के मध्यकाल तक चतुरश्रादि को तालभेंद ही कहा जाता था परन्तु 15वीं शताब्दी में इन पाँचों ताल भेदों को जाति शब्द में सम्मिलित किया गया तथा इनको चार, तीन, पाँच, सात और नौ वर्णों में सम्मिलित कहा गया है। उपयुर्क्त वणित तथ्य जाति शब्द का अर्थ तथा उपयोग वर्तमान दक्षिण पद्धति में भूला हुआ प्रतीत होता है तथा वह जाति शब्द एक नवीन अर्थ में उपयोग में लायी जाती है। दक्षिण पद्धति में जाति शब्द का अर्थ केवल लघु से होता है। वहाँ जाति के परिवर्तन से केवल लघु में परिवर्तन आता है,

---

(1) पं0 पार्श्वदेव / संगीत समयसार / अध्याय–8 / श्लोक–26
(2)पं0 श्रीकंठ / रसकौमुदी / तालाध्याय / श्लोक–44
(3) पं0 श्रीकंठ / रसकौमुदी / तालाध्याय / श्लोक–697
(4) पं0 श्रीकंठ / रसकौमुदी / तालाध्याय / श्लोक–701

बाकि इकाइयाँ ज्यों का त्यों रहता है, जैसे लघु की तीन मात्रा काल हो तो त्र्यश्र, चार हो तो चतुरश्र आदि।

वर्तमान उत्तर भारतीय ताल पद्धति में जातियों का प्राचीन स्वरूप बदल चुका है तथा जाति केवल लय से सम्बन्धित है। जातियों के संदर्भ में जो लय शब्द प्रचलित है वह प्राचीन आधार पर ही निद्रिष्ट है परन्तु उसका रूप बदल चुका है। वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत पद्धति के अर्न्तगत चतुरश्र तथा त्र्यश्र शब्द का उल्लेख केवल ताल के विभाग को सूचित करता है। जिस प्रकार वर्तमान ताल पद्धति में तीनताल में चार–चार मात्राओं का विभाग है। इसलिए उसे चतुरश्र तथा दादरा के तीन–तीन मात्राओं के खण्ड (विभाग) है तो वह त्र्यश्र जाति का कहा जाता है। चार व तीन मात्राओं के अन्तर द्वारा ताल के छंद रूप में परिवर्तन आ जाता है। जिसके द्वारा ताल गति का अभिप्राय में परिवर्तन आ जाता है। यहाँ गति का अभिप्राय ही वर्तमान उत्तर भारतीय पद्धति में चतुरश्र तथा त्र्यश्र आदि जातियों अंगोचर है। प्राचीन काल में जो ताल भेद कहे है। वह सभी गति पर ही आधारित है। संगीत शास्त्र में पं0 के0 वासुदेव शास्त्री, ने ताल के संदर्भ में जाति को गति कहा है।[(1)] भारतीय तालों का शास्त्री,य विवेचन ने डॉ0 अरूण कुमार सेन ने जाति को ताल के सन्निहित माना है। इस उद्देश्य से गति पर आधारित जाति को निरूपण करने से प्राचीन तथा वर्तमान उत्तर भारतीय ताल पद्धति में जो मुख्य ताले प्रयोग में हैं, उनकी जाति किस तरह से निश्चित की जाती है। यह उस ताल की नैसर्गिंक गति के द्वारा सिद्ध होता है। वर्तमान ताल पद्धति में झपताल का विभाग 2/3/2/3 है जिसमें ताल की गति प्रथम खण्ड़ में दो की फिर तीन, की पुनः दो फिर तीन की गति से चलता है। इस विलक्षण गति द्वारा ताल की एक अपनी मनावृत्तिगत छंद संयोजन दिखता है। जिसको आधार मानकर इस ताल को खण्ड जाति का कहा है।

उसी तरह से रूपक ताल के विभाग 3/2/2 के है जिसे तीन तथा चार भी मान सकते है तथा त्र्यश्र और चतुरश्र के मिश्रण द्वारा इसे मिश्र जाति कहा गया है। एकताल में 2–2 मात्राओं के छः खण्ड (विभाग) होते है, जो इन विभागों की मात्रा अनुकूल चतुरश्र जाति का होना चाहिए किन्तु ताल की चाल के अर्न्तगत जो उसकी मनोवृत्तिगत गति प्रकट होती है, वह त्र्यश्र जाति की दिखती है।

---

(1) शास्त्री के0 वासुदेव/संगीत शास्त्र/ताल प्रकरण/पृ0–212

इस प्रकार गति के छंद रूप से दो–दो मात्रा का विभाग होने पर भी एकताल त्र्यश्र जाति का कहा जाता है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि गति के ही आधार पर जाति निदृष्ट होती है। वर्तमान ताल पद्धति के अन्र्तगत जिन लयकारियों का वर्णन किया जाता है वह– आड ($1\frac{1}{2}$) $\frac{3}{2}$, कुआड़ ($1\frac{1}{4}$)$\frac{5}{4}$, बिआड ($1\frac{3}{4}$)$\frac{7}{4}$ तथा पौन गुन$\frac{3}{4}$ आदि है, यह सभी भी जातियों की लय क्रम की ही द्योतक है। जिस प्रकार से चार मात्रा में वर्णों का प्रयोग तो वह चतुरश्र जाति कही जाती है। उसी प्रकार चार में तीन की लयकारी को त्र्यश्र जाति कहा जाता है। सवागुन अर्थात् कुआड की लयकारी में चार मात्रा में पाँच मात्रा का प्रयोग खण्ड जाति कहलाती है। उसी तरह से जब चार में सात मात्रा हो तो पौने दो गुन अर्थात् बिआड की लयकारी मिश्र जाति की होती है संकीर्ण जाति में चार में नौ की लयकारी अर्थात् सवा दो गुन होता है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने जातियों का वर्णन नहीं करा परन्तु जातियों को ताल भेद के रूप में प्रस्तुत किया है जो मुख्य दो भेद चतुरस्त्र तथा त्र्यस्त्र है। इन दोनों के मिश्रण से मिश्र ताल नामक अन्य भेंद कहा है।

इसके अतिरिक्त मध्यकालीन ग्रन्थकारों ने जातियों के दो और भेंद कहे है जिनमें खण्ड़ भेंद या संकीर्ण भेंद को जोड़ा गया है। अभिनव गुप्त के अनुसार भरत मुनि को खण्ड़ भेंद मान्य थे। नाट्यशास्त्र के ध्रुवाध्याय में भरत मुनि श्ह स्पष्ट किया है कि त्र्यस्त्र, चतुरस्त्र तथा मिश्र तालों के भेदन से भंग तालों का निर्माण हुआ और भंग ताल ही खण्ड ताल कहे जाते है। इसी तरह से मिश्र संकीर्ण तथा लय भेदों के अनेक प्रकारों द्वारा उपभंग विभंग या लय ताल बनते है। जिन्हें बाद के अचार्यों ने ताल की पाँच जातियाँ मानी तथा इन जातियों को दो रूपों में व्यक्त किया। एक बोल जाति दूसरा लय जाति।

जब हर एक जाति के अन्र्तगत उसके मुख्य रूप के अनुकूल ही बोलो की रचना का वर्ण व्यवस्था की जाए जो वह बोल जाति कही जाएगी। तथा लय जाति का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि लय जाति इन सभी जातियों के विपरीत मानी जाती है, क्योंकि उसमें बोलो की रचना समान ही होती है परन्तु हर जाति के अनुकूल और सभी वर्णों को विभाजित करने का ढ़ंग भिन्न होता है।[(1)]

---

(1) दधीच पुरू / कथक नृत्य शिक्षा / पृ0–259

बोल जाति

जाति	बोल एक मात्रा के अनुसार
चतुरस्त्र जाति	धागेतिट, तागेतिट, क्रधातिट, गेगेतिट
त्र्यस्त्र जाति	धात्रक, धेतेटे
खण्ड़ जाति	धाऽ, धिकिट, धीना, धाकिट
मिश्र जाति	धागेना, धगेतिट, तागेना, तागेतिट
संकीर्ण जाति	धिट, धातिट, धाधातिट

लय जाति

जाति	जातिनुसार लयकारी
चतुरस्त्र जाति	ठाह, दुगुन, चौगुन, अठगुन
त्र्यस्त्र जाति	पौनी, डेढ़गुनी (आड), तिगुन
खण्ड़ जाति	सवाई(कुआड चार मात्रा में पाँच मात्रा का उच्चारण)
मिश्र जाति	पौनी दो गुन, (बियाड–चार मात्राओं में सात मात्रोओं का उच्चरण)
संकीर्ण जाति	स्वा दो गुन(चार मात्राओं में नौ मात्राओं का उच्चारण)

वर्तमान ताल पद्धति में अवनद्ध वाद्य तबला संगत वाद्य के अलावा स्वतन्त्र वाद्य के रूप में प्रस्तुत होता है स्वतन्त्र वादन में चतुरश्र आदि जातियों का प्रयोग तबले की बंदिशों एंव कायदों के रूप में प्रयोग हो रहा है। इसके प्रयोग द्वारा वादक अपनी लयकारियों पर कुशल अधिपत्य को प्रस्तुत करता है।

चतुरश्र जाति का कायदा

धागेधागे	तिटकधा	तिटधागे	तीनातिट	कधागेधा	गेतिटधा	तिटधागे	तिनकिन
x				2			
ताकेताके	तिटकता	तिटताके	तीनातिट	कधागेधा	गेतिटधा	तिटधागे	धिनगिन
0				3			

त्र्यस्त्र जाति का कायदा

धा ऽ ऽ धिं ऽ ऽ	न ग ति र कि ट	धिं ऽ ना ना गि न	धा गे ति र कि ट
x			
ति र कि ट धा गे	ति र कि ट त क	धिं ऽ ना ना गि न	धा गे ति र कि ट
2			
ता ऽ ऽ तिं ऽ ऽ	न ग ति र कि ट	तिं ऽ ना ना कि न	ता के ति र कि ट
0			
ति र कि ट धा गे	ति र कि ट त क	धिं ऽ ना ना गि न	धा गे ति र कि ट
3			

तीनताल कायदा खण्ड जाति–

धाऽ तिट, धाधा तिट तिट	धाऽ तिट, धागे तीना कड़धा
X	
तिट कड़धा, ऽधा तिट तिट	धाऽ तिट, धागे तिन किन
ताऽ तिट, ताता तिट तिट	ताऽ तिट, ताके तीना कड़धा
2	
तिट कड़धा, ऽधा तिट तिट	धाऽ तिट, धागे धिन गिन
धाऽ तिट, धाधा तिट तिट	धाऽ तिट, धागे तीना कड़धा
0	
तिट कड़धा, ऽधा तिट तिट	धाऽ तिट, धागे तिन किन
ताऽ तिट, ताता तिट तिट	ताऽ तिट, ताके तीना कड़धा
3	
तिट कड़धा, ऽधा तिट तिट	धाऽ तिट, धागे धिन गिन

मिश्र जाति का कायदा

धागेना, धाधातिट x	धागेना, तीना कड़धा	तिटकड़, धाधातिट	धागेना, तिनकिन	|
ताकेन, तातातिट 2	ताकेना, तीना कड़धा	तिट कड़, धाधातिट	धागेना, धिनगिन	
धागेना, धाधातिट 0	धागेना, तीना कड़धा	तिटकड़, धाधातिट	धागेना, तिनकिन	
ताकेन, तातातिट 3	ताकेना, तीना कड़धा	तिट कड़, धाधातिट	धागेना, धिनगिन	|

संकीर्ण जाति का कायदा

तिरकिट, तक तिरकिट, धिनगिन x	धात्ति, धागेन, धिनगिन	
तिट, धागेन, धिट धिट	धात्ति, धागेन, तिनकिना	|
तिरकिट, तक तिरकिट, तिनकिन 2	तात्ति, ताकेना, तिनकिन	
तिट, धागेना, धिट धिट	धात्ति, धागेना, धिनगिन	|
तिरकिट, तक तिरकिट, धिनगिन 0	धात्ति, धागेन, धिनगिन	
तिट, धागेन, धिट धिट	धात्ति, धागेन, तिनकिना	|
तिरकिट, तक तिरकिट, तिनकिन 3	तात्ति, ताकेना, तिनकिन	
तिट, धागेना, धिट धिट	धात्ति, धागेना, धिनगिन	|

4:2:7 कला– कला का अर्थ संगीत शास्त्र के अर्न्तगत अर्थों से प्रयोग होता है। संगीत शास्त्र में कला का एक अर्थ काल प्रमाण है। जिसे संगीत में मात्रा मान सकते है, प्राचीन संगीत में इसे गुरू कहा गया है। भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र के अर्न्तगत कला का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में क्रिया के दो प्रकार कहे है– निशब्द क्रिया तथा सशब्द क्रिया । भरत मुनि ने सशब्द क्रिया का अन्य ''पात'' तथा निशब्द क्रिया को ''कला'' कहा है। छंद शास्त्र तथा पिंगल शास्त्र में कला मात्रा के अर्न्तगत आती है **अर्थात्** मात्रा को कला कहा है।

ताल में वर्णित कला का प्रयोग सामान्य अर्थों में होता है– 1) सशब्द क्रिया, 2) निशब्द क्रिया, 3) ताल क्रिया विधि(आवापादि), 4) गुरू इकाई, 5) मात्रा या लघु, 6)तालों के भेदों द्वारा, 7)काल मान के स्वरूप में 8) मात्रा। अतः मार्ग कला के संदर्भ में तथा विभाग के रूप नाट्यशास्त्र के तालाध्याय के प्रथम श्लोक में भरत मुनि ने ताल को वर्णित करते हुए कहा है।

वाद्यं तु यद्घनं प्रोक्त कलापातलयान्वितम्।
कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयं तालयोगतः।।(1)

अर्थात् कला, पात तथा लय के अर्न्तगत काल का खण्ड या परिमाण को बताने वाला मान जो घनवाद्य के संदर्भ में आता है, ताल कहा जाता है। संगीत प्रयोजन के समय जब ताल का निरूपण होता है उस समय की मापन क्रिया को कला शब्द द्वारा कहा जाता है। ताल के अर्न्तगत कला क्रिया का सूचक मानी जाती है।

न सा ताल कला ज्ञेया हम्न्यैषां तालगः (गा) कलाः (ला)।।(2)

संगीत के प्राचीन ग्रन्थों के अर्न्तगत काल अवयव के रूप कला का उल्लेख प्राप्त होता है, नाट्यशास्त्र के तालाध्याय के दूसरे श्लोक में भरत मुनि ने कला, काष्ठ, निमेष शब्दों का उल्लेख काल अवयवों के रूप में प्रयुक्त किया है।

लौकिकी कला काष्ठा निमेषश्च बुधैः।।(3)

---

(1)शास्त्री, शुक्ल बाबूलाल(अनुवाद)/भरत/नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/श्लोक–1
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत/नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/श्लोक–2
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत/नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/श्लोक–2

भरत मुनि ने पाँच निमेष के बराबर काल को एक कला कहा है तथा मात्राओं के प्रयोग से कला का अविर्भाव कहा है। नारद कृत संगीत मकरन्द के अर्न्तगत आठ निमेंष की एक कला तथा दों कलाओं की एंव चतुर्भाग कहा है।

अष्काष्ठा निमेषः स्यान्निमेषैरष्टभिः कला।।[(1)]

मध्यकालीन ग्रन्थों में भी कला शब्द काल अवयव रूप में प्राप्त होती है, श्रीकंठ द्वारा रचित ग्रन्थ रसकौमुदी में उन्होनें आठ निमेंष एक कला कहा है तथा दो कलाओं का एक चतुर्भाग या त्रुटि। इस प्रकार कला का काल के अर्न्तगत उल्लेख किया है।[(2)] 17वीं शताब्दी के रचित ग्रन्थ संगीत दर्पण में पं0 दामोदर ने काल के मापन में कला को आठ निमेष की कला माना है तथा दो कला के चौथे थाग को त्रुटि माना है।[(3)] प्राचीन संगीत पद्धति में पाँच मार्गी तालों का उपयोग होता था। व्यावृत संगीत में मात्र पाँच तालों के अलग–अलग रूपों की व्यवस्था हुयी होगी। सम्भव है कि प्राचीन काल में लय गति को विलम्बित करने हेतु कला का प्रयोग होता होगा, क्योंकि कला का व्यावृत प्रयोग मार्गी तालों के अर्न्तगत होता था। वर्तमान काल में मार्गी तालों का पूरी तरह से लोप हो जाने से कला संज्ञा का भी लोप हो गया है, प्राचीन मार्गी संगीत में जिस रूप में कला का नियोजन होता था। वर्तमान परिपेक्ष्य में उत्तर भारतीय ताल पद्धति के अर्न्तगत उनमें केवल निशब्द क्रिया तथा मात्रा का ही प्रयोग हो रहा है, उस पर भी निशब्द के स्थान पर ''खाली'' शब्द संज्ञा का प्रयोग होता है। आज क्रियाओं का प्रयोग उस स्वरूप में नहीं होता जैसे प्राचीन मार्गी संगीत के अर्न्तगत आवापादि क्रिया के रूप में होता था। वर्तमान परिपेक्ष्य में अगर प्राचीन मार्गी संगीत में कला का व्यवहारिक स्वरूप को उत्तर भारतीय ताल पद्धति में देखे तो केवल मात्रा के रूप में ही उसे स्पष्ट कर सकते है। वर्तमान दक्षिण ताल पद्धति में निशब्द क्रिया का परिवर्तित रूप विसर्जितम शब्द है तथा पादभाग (विभाग) को अंगों की संज्ञा दी गयी है, जो लघु, गुरू आदि द्वारा स्पष्ट किए जाते है, तात्पर्य यह है कि मार्गी संगीत में जिन अर्थों में कला का प्रयोग होता था, वह स्वरूप वर्तमान दक्षिण भारतीय ताल पद्धति में निहित नहीं है। प्राचीन मार्गी ताल पद्धति में कला भेद से प्रधान लय सदृश होते हुए भी ताल की लम्बाई परिवर्तन हो जाने पर ताल के

---

(1)पं0 नारद / संगीत मकरन्द / नृत्याध्याय / तृतीय पाद / श्लोक–53
(2) पं0 श्रीकंठ / रस कौमुदी / अध्याय–4 / श्लोक–97
(3) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / श्लोक–636 / पृ0–111

अन्दर द्रुत, मध्य तथा विलम्बित लय का बोध होता है। वर्तमान परिपेक्ष्य में उत्तर भारतीय ताल पद्धति के अर्न्तगत कला अर्थात् मात्रा भेद द्वारा तालों की लम्बाई में परिवर्तन आता है जिसके द्वारा तालों के अर्न्तगत मूल लय होने पर भी उसमें द्रुत, मध्य तथा विलम्बित लय का भाव प्रकट होता है। विशेषतः द्विकल तथा चतुष्कल आदि के विषय में जो शब्दों का प्रयोग होता था, वह लुप्त हो गया है।

अगर वर्तमान परिपेक्ष्य में ताल के द्विकल तथा चतुष्कल स्वरूप को देखे तो उत्तर भारतीय ताल पद्धति में प्रचलित ताल एकताल का अलग–अलग लयों में उपयोग प्राचीन मार्गी ताल का कला के अर्थ प्रयोग किया जा सकता है। जिस तरह से गायन पद्धति में बड़े ख्याल के साथ एकताल का अति–विलम्बित स्वरूप प्रयोग होता है। जिसको विद्वान 48 मात्रा का एकताल कहते है। मुख्यतः एकताल तो 12 मात्रा का होता है, जिसे प्राचीन एककल या यथाक्षर प्रकार के तरह कह सकते है। कला के भेद से उसमें हर एक मात्रा को दोगुना कर देने पर पर जिससे एकताल की 12*2=24 मात्राएँ अर्थात् कलाएँ बन जाती है, जिस मार्गी तालों के द्विकल स्वरूप के समान कह सकते है। उसी तरह से एकताल के मूल रूप के हर एक मात्रा के साथ चार कलाओं का योग कर देते पर वह 12*4=48 मात्रा या कलाओं का बन जाता है, जिसे प्राचीन चतुष्कल स्वरूप के समान कह सकते है।

वर्तमान समय में नाट्यशास्त्र निदृष्ट तालों के कला भेंद से जो यथाक्षर, द्विकल तथा चतुष्कल स्वरूप में बनते है उनके अनुसार वर्तमान ताल पद्धति में तालों को इस प्रकार निदृष्ट किया जा सकता है।

यथाक्षर या एककल एकताल 12 मात्रा

धिं धिं	धागे तिरकिट	तू ना	क त्त	धागे तिरकिट	धी ना
X	0	2	0	3	4

द्विकल स्वरूप (विलम्बित 24 मात्रा)

धिं ऽ धिं ऽ	धागे तिरकिट	तू ऽ ऽ ना	क ऽ त्त ऽ	धागे तिरकिट	ऽ धी ना ऽ
X	0	2	0	3	4

चतुष्कल स्वरूप(अतिविलम्बित 48 मात्रा)

धिं ऽ ऽ ऽ धिं ऽ ऽ ऽ	धा ऽ गे ऽ ति र कि ट	तू ऽ ऽ ऽ ना ऽ ऽ ऽ
X	0	2
क ऽ ऽ ऽ त्ता ऽ ऽ ऽ	धा ऽ गे ऽ ति र कि ट	धी ऽ ऽ ऽ ना ऽ ऽ ऽ
0	3	4

उपर्यक्त उदाहरण से यह स्पष्ट होता है, कि कला अर्थात् मात्रा के भेद करने पर किस तरह से एकताल तीन अलग–अलग रूप सिद्ध होती है। जिनका प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान परिपेक्ष्य में उत्तर भारतीय ताल पद्धति में होता है तथा यह स्वरूप नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा तालों के यथाक्षर, द्विकल तथा चतुष्कल रूप के अनुसार ही है। जिससे यह स्पष्ट होता है, कि कला भेंद अर्थात् मात्रा के अनेक भेद किस तरह से किए जाए, यह भरत मुनि निदृष्ट नाट्यशास्त्र में वर्णित है, जो वर्तमान में भी तालों के लय रूप में प्रयोग हो रहा है। शोधार्थी का मनना है कि आदिकाल में कलावृदि का यही सिद्धान्त था जो ताल प्रबन्धों में प्रयोग किया जाता था। वर्तमान उत्तर भारतीय ताल पद्धति में तथा दक्षिण ताल पद्धति में यह नियम प्रचलन में है। मात्र अन्तर सिर्फ इतना है, कि कलाओं के नाम विस्मरण है तथा उनकी क्रियाएँ लुप्त हो चुकी है।

4:2:8 लय– साधारणतः लय शब्द के श्रवण मात्र से ही पारस्परिक घनिष्ठता संगीत के साथ ज्ञात होती है। यदि ध्यान से इस तथ्य पर विचार किया जाए तो प्रत्यक्ष रूप देखा जा सकता है कि लय प्राकृतिक रूप से विद्यतान है। सब जगह समाहित शक्ति रूप है। प्रकृति में सब लय के अनुरूप ही होता है। जीवन की हर एक प्रक्रिया में लय विराजमान है। प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुसार वातावरण में होने वाले परिवर्तन, ऋतुओं में निर्धारित कालान्तर में आना सभी नक्षत्रों का निर्धारित गति में विचरण करना, सूर्य का उदय व अस्त होना, धरती का सूर्य की परिक्रमा करना आदि सभी क्रियाएँ लयात्मक ही है। संगीत में मुख्य रू‹ से दो तत्व महत्वपूर्ण है। स्वर तथा लय के बिना संगीत की कल्पना करना व्यर्थ है। जिस तरह से मानव शरीर में नाड़ी की प्राथमिकता है, वैसे ही संगीत के अर्न्तगत लय की प्रथमिकता है। संगीत में एक समान गति को लय कहते है। यही लय जब मात्त्र में निबद्ध हो जाती है तो ताल कहलाती है। अतः इस असीमित लय का ताल एक सीमित व मात्राबद्ध स्वरूप है। संगीत में दो क्रियाओं के मध्य होने वाले कालान्तर को लय कहते है। नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव भारती में अभिनव गुप्त द्वारा भरत मुनि द्वारा वर्णित तालाध्याय के प्रथम श्लोक की

व्याख्या करते हुए लय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लय को लीनता के रूप में ग्रहण किया है तथा लीनता को ही विश्रान्ति कहा है।

तेन स्वरो वर्णोऽन्यो वा यस्यापादितस्तत्रैव या लीनता विश्रान्तिः।।(1)

भरत मुनि ने पाँच निमेष के लगने वाले समय को एक मात्रा माना हतथा मात्राओं के मेल द्वारा कला की अवस्था कही है। भरत मुनि के अनुसार दो कलाओं के बीच में जो गायन समय लगता है। वह समय पाँच निमेष का कहा है तथा कला और मात्राओं के काल के अनुरूप ही लय की अवस्था होती है।

निमेषः पंच मात्रा स्यात मात्रायोगात कला स्तृता।
निमेषः पंच विज्ञेया गीतकाले कालान्तरम्
ततः कलाकालकृतो लय इत्यभिसंज्ञित ।।(2)

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने लय का उल्लेख करते हुए कहा है कि छंदो, अक्षरों और पदों की अनुरूपता करता हो, काल तथा कला के मध्यवर्ती अन्तर को स्पष्ट करता तथा ताल प्रमाण को दर्शाता हो लय कहना चाहिए।

छंदोक्षरपदानां हि समत्वं यत् प्रकीर्तितम्।
कलाक (का) लयान्तरकृतः स लयो मान (नाम) संज्ञितः।।(3)

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने तीन प्रकार की लय बतायी गयी है– द्रुत, मध्य तथा विलम्बित तथा इनमें मध्य लय द्वारा कला का मान स्पष्ट होता है।

त्र्यो लयास्तु विज्ञेया द्रुतमध्यविलम्बितः।
चस्तत्र तु लयो मध्यस्तत्प्रमाण कला भवेतः।।(4)

आचार्य पार्श्वदेव द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत समयसार इसके अर्न्तगत लय सम्बन्धी परिभाषा इस प्रकार कही है।

द्रुता लघुनां बाहुल्यादल्पत्वेन विलम्बितः।
लघुनां च गुरूणां च समत्वे माध्यमाम तः।।

गर्वक्षराणां प्राचुरर्यात भवेदद्रुतविलम्बितः।
गर्वक्षणामल्पत्वे द्रुतमध्या प्रकीर्तितः।।

---

(1) अभिनव गुप्त/अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/पृ0–151
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत/नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/श्लोक–4–5
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत/नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/श्लोक–370–371
(4) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/श्लोक–6

गुरूर्भिर्लभिर्मिश्रैः ज्ञैया मध्यविलम्बिताः।।[(1)]

आचार्य पार्श्वदेव ने गद्य के अर्न्तगत गति के छः प्रकारों का वर्णन किया है– द्रुत, विलम्बित, मध्या, द्रुतविलम्बि, द्रुतमध्या तथा मध्यविलम्बित। जिनके लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है कि लघुओं की अध्किता से द्रुत, कम लघुओं के प्रयोग से विलम्बित, लघु तथा गुरूओं का एक समान प्रयोग करने पर मध्यम, द्रुतविलम्बिता में गुरूओं की बाहुल्यता होती हैद्रुतमध्या के अर्न्तगत गुरू अक्ष्रों को का प्रयोग रहता है और मध्यविलम्बिता गति गुरूओं तथा लघुओं के मिश्रण द्वारा स्थित होती है।

12वीं शताब्दीं के ग्रन्थ मानसोल्लास के अर्न्तगत पं0 सोमेश्वर ने लय के तीन प्रकारों का वर्णन नहीं किया है। जबकि ग्रन्थ के अर्न्तगत मान संज्ञा के स्वरूप में मार्ग तथा लय को दर्शाया गया है। निजमान से वार्तिक, विलम्बित में दक्षिण, शीघ्रमान से चित्र तथा अतिशीघ्र मान से चित्रतर बताया है। ग्रन्थ में निजमान का रूप मध्य मान से है। इस तरह से मध्य, द्रुत तथा विलम्बित मान के स्वरूप से तीन प्रकार की लय को स्पष्ट किया गया है–

कदाचिच्छीघ्रतां शति विंलबं (लम्बं) याति कदिचित्।
वार्तिकं दक्षिणं चित्रं तुर्य चित्रतंट तथा।।

एंव चतुर्विध मानं तालपाते प्रकीर्तितम्।।
वि (विं) लम्बितेन मानेन दक्षिणं परिकीर्तितम्

श्घ्रिमानेन चित्रं स्याद तिशीघ्रं तदेव चेत्।।
प्राहु श्चित्रतरं मानमिति मानविनिर्णयः।।[(2)]

जग्देकमल्ल द्वारा रचित ग्रन्थ संगीत चुडामणि में लय को इस प्रकार परिभाषित किया गया है दो मात्राओं के बीच जो अन्तर होता है या जो विराम होता है वह लय कहा जाता है, लय के तीन प्रकार कहे है– द्रुत, मध्य तथा विलम्बित।

तालान्तरावर्ती यः कालोऽसौ लयनाल्लयः।
त्रिविधः स च विज्ञेयो द्रुतो मध्ये (ध्यो) विलम्बितः।।[(3)]

शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में लय को इस प्रकार परिभाषित किया है।–

(1) पं0 पार्श्वदेव आचार्य / संगीत समयसार / अध्याय–5 / श्लोक–182–184
(2) पं0 सोमेश्वर / मानसोल्लास / विश्रांति–4 / अध्याय–16 / श्लोक–850–853
(3) पं0 जग्देकमल्ल / संगीत चुडामणि / तालाध्याय / श्लोक–58

विश्रान्ति युक्तया काले क्रि मानमिष्यते क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः स।।[1]

अर्थात्–विराम से सम्मिलित क्रिया के माध्यम से काल का माप किया जाता है तथा एक क्रिया से दूसरी क्रिया के मध्य होने वाली विश्रान्ति लय है। यह विराम काल जितना अधिक होता है, उतनी ही लय विलम्बित होती जाती है। वर्तमान परिपेक्ष्य में लय आकलन में विश्राप्ति काल को गति के रूप में जाना जाता है। संगीत रत्नाकर में लय के तीन प्रकार कहे है– द्रुत, मध्य तथा विलम्बित।

मध्यकालीन ग्रन्थ अशोकमल्ल विरचित नृत्याध्याय, यह ग्रन्थ नृत्य पर आधारित इस ग्रन्थ में लय के विषय में इतना स्पष्ट नहीं है। यद्यपि इस ग्रन्थ में देशी लास्यागों के 37 भेंदों के अर्न्तगत लय को प्रकट किया गया है। वर्तमान में इसे लयकारी के संदर्भ में रखा जा सकता है। ग्रन्थ में वर्णित है कि नृत्य में जा लय चल रही हां उस लय के अन्दर रहका उसमें अन्यों को मिला–लिया जाए तो वह लय नामक लास्यांग कहा जाता है।

ज्ञित किञ्चल्लयं वेगाद योजयेदितरौ लयौ।
पात्रं सविस्यमं यत्र नृत्येऽसौ सम्मतो लयः।।[2]

पं0 अहोबल द्वारा मध्यकालीन रचित ग्रन्थ संगीत पारिजात के अर्न्तगत लय की परिभाषा इस तरह से कही गयी है कि क्रिया पश्चात् जो विराम काल है वह लय है तथा इसके तीन भेंद कहे है– द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। संगीत दर्पण ग्रन्थ 17वीं शताब्दी का ग्रन्थ है, पं0 दामोदर द्वारा इस ग्रन्थ की रचना की गयी थी। इस ग्रन्थ में लय को संगीत रत्नाकर के समान ही परिभाषित किया गया है, कि दो क्रियाओं के मध्य होने वाली विश्राप्तिकाल अर्थात् को लय कहा जाता है, तथा इसके भेद कहे है– द्रुत, मध्य तथा विलम्बित।

18वीं शताब्दी के बाद के विद्वानों द्वारा की परिभाषा इस प्रकार दी है–

1) पं0 ओमकार नाथ ठाकुर ने अपने ग्रन्थ संगीतांजल्लि में लय की परिभाषा करते हुए कहा है कि संगीत में एक निश्चित गति को लय कहते है।[3]

---

(1) चौधरी सुभद्रा(अनुवाद)/शारंगदेव–संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–43
(2) अशोकमल्ल/नृत्याध्याय/श्लोक–1542/पृ0–187
(3) ठाकुर ओमकार नाथ/संगीतांज्जलि–भाग–4/पृ0–19

2) आचार्य कैलाश चन्द्रदेव बृहस्पति के ग्रन्थ संगीत चिन्तामणि में लय को परिभाषित करते हुए कहा है कि दो क्रियाओं के मध्य होने वाले विश्राम काल का मान लय कहा जाता है।[1]

3) संगीत शास्त्र ग्रन्थ में के0 वासुदेव शास्त्री, द्वारा भी दो क्रियाओं के मध्य विराम काल को लय कहा है तथा यल को ही ताल व्रिाि गति का प्रवाह (धारा) कहा है, तथा लय के तीन प्रकार कहे है–विलम्बित, मध्य, द्रुत।

उपर्युक्त तथ्यों द्वारा ज्ञात होता है कि संगीत रत्नाकर से लेकर 19वीं शताब्दी तक लय के लक्षण का वर्णन नाट्यशास्त्र के अनुसार ही कहे है। वर्तमान परिपेक्ष्य में संगीत पद्धति में लय के मूल तत्व में कोई अन्तार नहीं आया है। लय के तीनों प्रकारों के नाम प्राचीन ग्रन्थों के अनुरूप ही है तथा लय का परिभाषा भी प्राचीन शास्त्र पर आधारित है। परन्तु उनकी प्रयोग विधि में कुछ अन्तर आया है। वर्तमान उत्तर भारतीय ताल पद्धति में लय के तीनों प्रकारों का संयोग ठाह, दुगुन तथा चौगुन से युक्त किया जाता है। ठाह अर्थात् बराबर की लय को विलम्बित लय माना गया है। दुगुन को मध्य तथा चौगुन को द्रुत लय माना जाता है। वर्तमान काल में संगीत विद्वान व दार्शनिक (विचारक) लय को गति से सम्बन्धित मानते है। तथापि कुछ विचारकों द्वारा आज भी दो क्रियाओं के मध्य काल जब निश्चित गति निरंतर स्थित रहे तो वह लय कही जाती है। लय की वास्तविकता तो वही है, परन्तु केवल इतना है कि पहले के लय में वर्णित विश्रान्ति शब्द का लोप हो गया है दूसरा लय के प्रकारों में पारस्परिक लगाव में बहुत अन्तर हो चुका है, जबकि इन तीनों प्रकारों के नाम वैसे ही है, परन्तु इनका काल प्रमाण प्राचीन की तरह निश्चित नहीं है आज विलम्बित से थोडी तेज लय भी मध्य लय हो सकती है तथा उससे अधिक भी मध्य मानी जाती है तथा मध्य से थोडी अधिक या तेज़ लय को द्रुत लय कहा जाता है। लय भेंदों के भाव में हो रही अवस्था का अनुमान सबसे पहले संगीत के कलाधार प्राप्त होते है। इन पुस्तकों में तीनों भेंदों के अतिरिक्त दो अन्य भेंद मध्य विलम्बित और मध्य द्रुत कहे है। इस तथ्य से यह प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र की तरह ही मध्य लय को प्रमाण लय स्वीकारा गया है। अर्थात् मध्य लय प्रवृति दोनों तरफ दिखती है। मध्य विलम्बित यानि जो पूरी तरह से मध्य नहीं है तथा जिसका झुकाव विलम्बित

---

(1) बृहस्पति चन्द्रदेव आचार्य कैलाश / संगीत चिन्तामणि / पृ0–109

की तरफ हो और द्रुत विलम्बित में मध्य से थोडी तेज़ परन्तु द्रुत की तरह ज्यादा तेज़ गति में नहीं इसी तरह से लय के कई भेद प्रयोग किए गए।

उसी तरह आज द्रुत लय के एक रूप सितार पर बजाने वाले झाले तथा नृत्य के ततकार के साथ अतः द्रुत के रूप में दिखायी देती है। उत्तर भारतीय ताल पद्धति में लय भेंद से जुडा हुआ एक कथन यह है कि अवनद्ध वादन विधि से सम्बन्धित तीन परिभाषिक शब्द पेशकार, कायदा तथा रेला के वादन समय में कहते है। इन दोनों का आरम्भ क्रम अनुसार विलम्बित, मध्य और द्रुत लय किया जाता है। वर्तमान संगीत में विलम्बित लय का मान निश्चित नहीं है। परन्तु जो लय एक बार बराबर (ठाह) के रूप में निश्चित की जाती है। उसकी तुलना में दुगुना एंव चौगुना में दुगनी–दुगनी क्रिया तथा आधी–आधी विश्रान्ति का मान ही होता है। इस प्रकार वर्तमान ताल पद्धति में पेशकार आदि के वादन क्रिया में प्राचीन लय भंदों के दुगने–दुगने सम्बन्ध के कुछ अंश देख सकते है।

सभी तथ्यों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्राचीन पद्धति का पारिभाशिक शब्द तथा उसके भेद वर्तमान संगीत पद्धति में भी कई स्थानों पर लक्ष्य और लक्षण में प्रयोग हो रहे है और लय की धारणा तथा उसके भेंद प्राचीन पद्धति के अनुसार ही है, केवल उन भेंदों के मापन में अन्तर आया है। नाट्यशास्त्र में मात्रा के अनुसार ही लय का निर्धारण किया जाता था, द्रुत के अन्तर्गत पाँच लघु अक्षरों का रखा जाता व इसके दुगने स्वरूप अर्थात् दस लघु अक्षरों को मध्य लय में तथा विलम्बित में मध्य की भी दो गुनी अर्थात् बीस अक्षरकाल माने जाते थे। वर्तमान में उत्तर तथा दक्षिण दोनों ही पद्धतियों में नाट्यशास्त्र के विपरीत लय का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। वर्तमान समय में गायक, वादक सुविधानुसार जिस लय में गा, बजा सकता है,उसको मध्य लय माना जाता है, इस लय का कोई निश्चित मानक नही है। वर्तमान समय में लय का स्थान गति ने ले लिया है। नाट्यशास्त्र में जो लय की परिभाषा प्राप्त होती है उसका क्रम द्रुत, मध्य तथा विलम्बित है वर्तमान समय में लय का क्रम नाट्यशास्त्र में वर्णित परिभाषा से भिन्न है जो विलम्बित, मध्य तथा द्रुत है। इसी कारण वश लय का रूपान्तरण गति के रूप में हो गया है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा लय को विश्रान्ति के रूप में स्वीकारा है। जैसे द्रुत का दुगना विराम मध्य तथा मध्य का दुगना विलम्बित कहा गया है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में नाट्यशास्त्र के विपरीत विरामकाल(विश्रान्तिकाल) क्रिया ने ले लिया जिसके माध्यम से नाट्यशास्त्र का लय क्रम द्रुत,

मध्य तथा विलम्बित से विपरीत होकर वर्तमान में विलम्बित, मध्य तथा द्रुत हो गया। लय के नाट्यशास्त्र आधारित स्वरूप व वर्तमान स्वरूप के परिवर्तन को इस प्रकार समझा जा सकता है।

नाट्यशास्त्र वर्णित लय क्रम द्रुत, मध्य तथा विलम्बित (विश्रान्ति काल आधारित)

द्रुत लय–

1 2 3 4 5 6 7 8

धा ↔ गे ↔ न ↔ ति ↔ न ↔ क ↔ धी ↔ ना

विराम काल

मध्य लय–

धा ↔ गे ↔ न ↔ ति ↔ न ↔ क ↔ धी ↔ ना

दुगना विराम काल

विलम्बित लय–

धा ⟷ गे ⟷ न ⟷ ति

दुगनी–दुगनी विराम काल

न ⟷ क ⟷ धी ⟷ ना

वर्तमान संगीत पद्धति में लयक्रम (क्रिया आधारित)

विलम्बितलय–

धिं	ना	धिं	धिं	ना	तिं	ना	धिं	धिं	ना
X		2			0		3		

मध्यलय–

धिंना	धिंधिं	नातिं	नाधिं	धिंना	धिंना	धिंधिं	नतिं	नाधिं	धिंना
X		2			0		3		

द्रुतलय–

धिंनाधिंधिं	नतिंनाधिं	धिंनाधिंना	धिंधिंनातिं	नाधिंधिंना
X		2		
धिंनाधिंधिं	नतिंनाधिं	धिंनाधिंना	धिंधिंनातिं	नाधिंधिंना
0		3		

उदाहरण का स्पष्टिकरण इस प्रकार प्राप्त होता है कि यदि किसी विद्यार्थी को किसी ताल की दुगुन व चौगुन करने को बोली जाए तो वह सर्वप्रथम ठाह की दुगनी कर मध्य तथा मध्य

की दुगुनी कर द्रुत लय को दर्शाता है जिसमें लय में क्रिया रूप दिखता है लय का स्थान क्रिया द्वारा कब ग्रहण किया गया इसका कोई निश्चित समय या प्रमाण ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता यह एक व्यवहारिक प्रक्रिया के अर्न्तगत समझा जा सकता है।

4:2:9 यति– ''तिन्'' प्रत्यय के साथ धातु के योग से यति शब्द बनता है। लौकिक व्यवहार में यति का अर्थ होता है किसी इन्सान ने अपनी इंद्रियों को वश में कर लिया हो तथा वह संसार के मोह–माया के जंजाल से परे हो उस इन्सान को यति (ऋी) कहते है। संगीत में तालशास्त्र के अर्न्तगत यति के माध्यम से लय उपयोब के अलग–अलग क्रमों को प्रकट किया जाता है अर्थात् ताल के संदर्भ में प्रयोग किए जाने वाले बोलों की गति के विभिन्न भेंदों को यति कहते है। अतः एक ही बोल रचना की भिन्न–भिन्न लयों में प्रयोग या वादन करना यति कहा जाता है, मतलब यह है कि लय प्रवाह का विधा नही यति कहलाता है। नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में भरत मुनि ने यति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–

लयप्रवृत्तवर्णानामक्षराणामथपि वा (च)।
नियमो या (यो) यतिः मा तु गीतवाद्यसमाश्रया।।(1)

अर्थात्– जो गीत और वाद्य पर अश्रित रहकर पद, वर्ण एंव बोलों का विस्तार कहे तथा उनको नियम में बाँधें वह यति कही जाती है। भरत मुनि ने यति के तीन प्रकार कहे है–स्त्रोतागता यति, गोपुच्छा यति तथा समा यति।

समायति– भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में समायति का उल्लेख करते हुए कहा है कि जब आदि से अन्त तक वर्णो, बालों तथा पदों की संख्या एक समान दिखती हो तो वह समायति समझनी चाहिए। वर्तमान समय में भी संगीत पद्धति में भी समायति को इसी प्रकार कहा की कब ताल या गीत की लय एक समान चलती हो तो उसे समायति कहा जाता है। वर्तमान समय में यतियों का अधिकतर प्रयोग अवनद्ध वाद्य की बंदिशों में देखने को मिलता है।

स्त्रोतागता यति नाट्यशास्त्र में भरत मुनि नेकहा है कि जब वाद्यों से उत्पन्न होने वाली ध्वनि के गति आगे की और बढ़ती हुयी चले अर्थात पहले द्रुत बीच मध्य तथा अंत विलम्बित पर समापत होती है तथा यह यति एक स्त्रोत के समान होती है जैसे स्त्रोत का प्रवाह पहले

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृ0–284

छोटा फिर बड़ा होता जाता है। उसी तरह से स्त्रोतोगता यति में मात्रा काल का काल क्रम कम से अधिक होता जाता है।

गोपुच्छा यति– भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में गोपुच्छा यति को इस प्रकार समझाा जा सकता है कि जैसे बड़ा ख्याल (विलम्बित लय) जिसके अर्न्तगत अक्षरों (वर्णो) के अत्याधिक खिचाव से दो वर्णो के मध्य विस्तार अधिक होने से शब्द अधिक स्पष्ट नहीं होते गीत शब्द प्रधान न हो कर स्वर प्रधान हो जाता है। वर्तमान संगीत में गोपुच्छा यति को स्त्रोतोगता के ठीक विपरीत कहा है कि प्रथम विलम्बित लय, फिर मध्यलय अन्त में द्रुत लय हो तो उसे गोपुच्छा यति समझना चाहिए। मात्रा काल के अनुसार पीले एक मात्रा काल में अधिक मात्राएं फिर उससे कत मात्राएं होती जाती है तो वह गोपुच्छा यति कही जाती है।

इन तीनों यति को भरत मुनि ने लय तथा मार्ग से सम्बन्धित बताया है। अभिनव गुप्त ने भी नाट्यशास्त्र की टीका में यति को गीत तथा वाद्य के आश्रित कहा है–**''त्रिमेण गीताश्रया वाद्याश्रय च''**।[1] दत्तिल मुनि द्वारा रचित ग्रन्थ दत्तिलम में भी यति के तीन प्रकार कहे है–समा, यत्रोतागता तथा गोपुच्छा। इन्होनें भी यति को मार्ग से सम्बन्धित कहा है–

लययांत यति प्रोक्ता चित्रादि (षु) यथाक्रम।
समा स्त्रोतोगत चैव गौपुच्छा च यथाक्रमम्।।[2]

मंतग मुनि ने यति को मागधी आदि गीतियों से सम्मिल्लित तथा लय पाणि और मार्ग से सम्बन्धित कहा है।[3] संगीत चुडामणि ग्रन्थ में जगदेकमल्ल ने दत्तिल के समान ही यति को लय में क्रमशः समा, स्त्रोतोगता तथा गोपुच्छा। यह तीन प्रकार यति के कहे है।[4]

संगीत रत्नाकर में लय के प्रयोग नियम को यति कहा है–

''लयप्रवृत्तिनियनों यतिरित्यभिधीयते''।।[5]

शारंगदेव द्वारा संगीत रत्नाकर में यति के तीन भेद (प्रकार) कहे है। जो लय के उपयोग विधि पर ही आधारित कहे है। यति के तीन प्रकार– समा यति, स्त्रोतागता, गोपुच्छा।

---

(1) गुप्त अभिनव / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–28 / पृ0–8
(2) दत्तिल / दतिल्लम / श्लोक–154–155 / पृ0–15
(3) मंतग / बृहद्देशी / खण्ड–1 / अनु0–109 / पृ0–122
(4) जगदेकमल्ल / संगीत चुडामणि / तालाध्याय / श्लोक–59
(5)चौधरी सुभद्रा(अनुवाद) / शारंगदेव–संगीत रत्नाकर / अध्याय–5 / श्लोक–46

समा स्त्रोतोगता चान्या गोपुच्छात्रिविधेति सा।।

संगीत रत्नाकर में इन तीनों यतियों के लक्षण लय के अनुरूप कहे है–

समा यति–प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक समा नही लय प्रयोग हो, तो वह समा यति कहलायेगी।

स्त्रोतोगता यति– इस यति के अर्न्तगत जब लय प्रारम्भ में विलम्बित बीच में मध्य तथा अखिर में द्रुत लय हो तो वह स्त्रोतागता यति कहलाती है।

गोपुच्छा यति– संगीत रत्नाकर में इसके लक्षण इस तरह कहे है–**''द्रुतमध्यविलम्बैः स्याद्धोपुच्छा''**[(1)] **अर्थात्** जिसका आरम्भ द्रुतलय में हो बीच में मध्य तथा अंत में विलम्बित से समापन हो तो वह यति गोपुच्छा कही जाती है।

संगीत मकरन्द में भी तीन प्रकार की यति का वर्णन किया गया है, जिसे समा, स्त्रोतोवहा तथा गोपुच्छा यति कहा है। इस ग्रन्थ में नारद मुनि ने स्त्रोतोगता के स्थान पर श्रोतोवहा शब्द का प्रयोग किया है–**''समाश्रोतोवहयति र्गोपुच्छापेतिसात्रिधा''।**[(2)] पं दामोदर ने 17वीं शताब्दी के अपने ग्रन्थ संगीत दर्पण में यति का वर्णन करते हुए कहा है।लय के प्रवृत्ति विधान को यति कहते है। इस ग्रन्थ में यति के पाँच प्रकार कहे है–समा, स्त्रोतोगता, गोपुच्छा कही हैं जो प्राचीन ग्रन्थों के अनुरूप ही है। इसके अलावा दो यतियाँ और कही हैं–मृदंगा तथा पिपीलिका यति। मध्य काल में नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त जिन दो अन्य यतियों का वर्णन प्राप्त होता है वह अर्थानुकूल ही है। जिस तरह नाट्यशास्त्र में तालों के दो मुख्य जातियाँ त्र्यस्त्र तथा चतुरश्र व छंदों की इकाइयाँ लघु, गुरू दो कहीं है और उनके मिश्रण द्वारा नवीन जातियों तथा इकाइयों के अन्य रूप बने इसी आधार पर यतियों के तीन रू‍ समा, स्त्रोतागता व गौपुच्छा है तथा उनके लय भेंदों द्वारा मध्य काल में दो अन्य यतियाँ मृदंगा व पिपीलिका यतियाँ निर्मित हुयी। अतः नाट्यशास्त्र की इन तीन यतियों के मिश्रण से दो अन्य यतियों का निर्माण हुआ इन दोनों यतियों का लय क्रम स्त्रोमागता तथा गौपुच्छा के मिश्रण से बनता है। जो इस तालिका द्वारा प्रस्तुत होता है।

---

(1)चौधरी सुभद्रा(अनुवाद)/शारंगदेव–संगीत रत्नाकर/अध्याय–5/श्लोक–49
(2) नारद/संगीत मकरंद/नृत्याध्याय/श्लोक–878

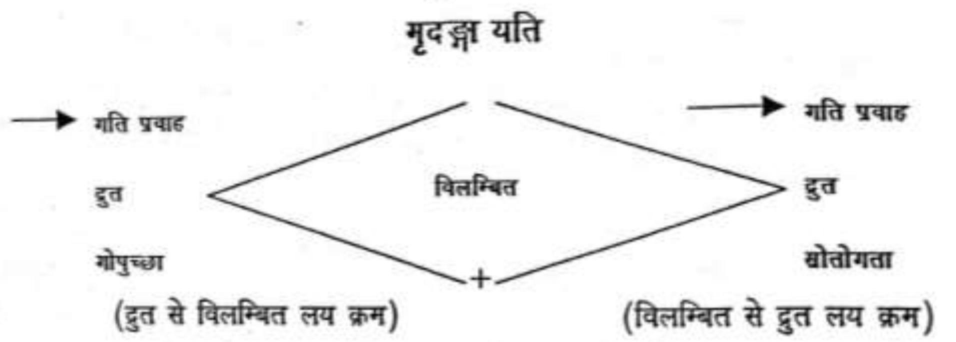

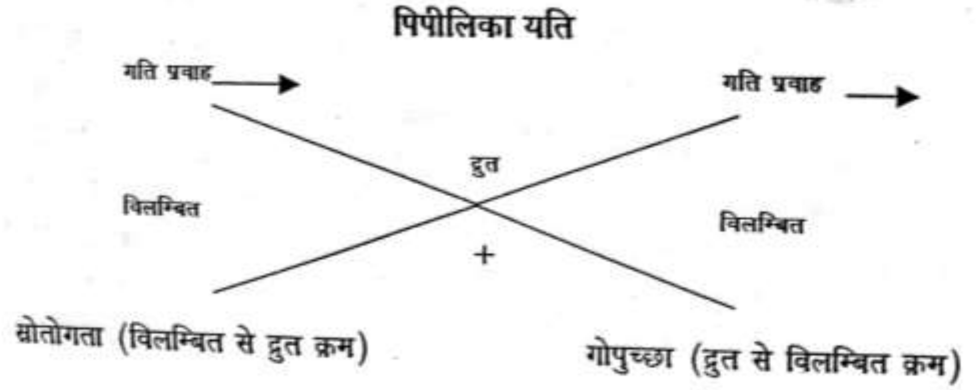

मृदंगा यति मृदंग के स्वरूप के सादृश्य इसकी लय का चलन देखने को मिलता है अर्थात् जिसका आरम्भ द्रुत लय में हो बीच में मध्य तथा अन्त में पुनः द्रुत लय हो उसे मृदंगा यति कहा जाता है।

पिपीलिका यति– यह यति चींटीं के आकार समान होती है जिसमें आदि तथा अन्त का भाग मध्य की अपेक्षा फैला होता है जिसको लय के अनुसार इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में विलम्बित बीच में द्रुत तथा अन्त में विलम्बित या फिर आदि तथा अन्त में मध्य व बीच में द्रुत लय होती है।

लयप्रवृत्तियमो यतिरित्यभिधीयते।
समा स्त्रोतोगता चाप्या मृदंगाच प्रकीर्तितः।
पिपीलिकाच गोपुच्छा यतयः पच्ञधा स्मृताः।।[1]

संगीत पारिजात ग्रन्थ में भी पं0 अहोबल ने सभी विचारकों के अनुसार लय के प्रवृत्ति सिद्धन्त को यति कहा है तथा यति के पाँच प्रकार कहे है। समा, स्त्रोतोगता, मृदंगा, पिपीलिका तथा गोपुच्छा।

लय प्रवृत्तिनियमों यतिरित्युच्यते बुधैः।
समाश्रोतोगतारचान्या मृदंगा च प्रकीर्तिता।

---

(1) पं0 दामोदर / संगीत दर्पण / अध्याय–6 / तालाध्याय / श्लोक–710,711

पिपीलिकाच गोपुच्छा यततः पच्चधा स्मृताः।।[1]

नाट्यशास्त्र काल से लेकर संगीत रत्नाकर काल तक के हर एक ग्रन्थ के अर्न्तगत यति के तीन ही भेद कहे है तथा उनके लक्षण भी एक जैसे ही कहे है। प्राचीन समय से मध्यकाल तक समा, स्त्रोतोगता तथा गोपुच्छा यति की धारणा एक जैसी ही थी। कालान्तर में 16वीं, 17वीं शताब्दी में यति के दो अन्य भेंद मृदंगा तथा पिपीलिका यति प्रचार में आए। इस प्रकार यति के पाँच प्रकार प्रचार में आए।

प्राचीन संगीत की ताल पद्धति में यति की धारणा में लय के अलग–अलग क्रमों का एक निश्चित रूप था। तीन प्रकार की लयों का कितने प्रकार से प्रयोग हो सकता है यह प्राचीन काल में यति के द्वारा उल्लेख किया जाता था। वर्तमान ताल पद्धति के सम्बन्ध में यति का प्रयोग किस रूप में किया जा रहा है, उसे शोधार्थी द्वारा समझने का प्रयास किया गया है। सामानतः उत्तर भारतीय ताल पद्धति में यति का प्रयोग प्राचीन रीति से नहीं होती, फिर भी जिस रूप में यति प्रयोग दिखता है, उसका वर्णन इस प्रकार है–

1: गायन, वादन तथा नृत्य की प्रस्तुती करते है, तो उसका आरम्भ विलम्बित पेशकार, विलम्बित आलाप और विलम्बित लय के ठाठ से करते है, फिर क्रमानुसार तीनों के अर्न्तगत मध्य लय में प्रदर्शन किया जाता है तथा अन्त में द्रुत में प्रस्तुती की जाती है। इस प्रकार एक ही प्रस्तुती के समय तीन अलग–अलग लयों के सम्मिलित होने पर स्त्रोतोगता यति का भाव होता है।

2: उत्तर भारतीय ताल पद्धति में अवनद्ध वाद्यों में वर्तमान समय में त्रिपल्लि, चौपल्लि आदि बंदिशे बतायी जाती है, जिसमें एक ही रचना के अर्न्तगत तीन, चार लयों को समावेश होता है। इस प्रकार एक ही रचना में अलग–अलग लयों का प्रयोग के स्वरूप में यति का भाव होता है।

3: त्रिपल्लि तथा चौपल्लि रचनाओं का प्रयोग कभी–कभी चौगुन से आरम्भ, मध्य में दुगुन तथा अन्त में ठाह में अर्थात् जिसमें द्रुत, मध्य और विलम्बित का क्रम होता है, जियके अर्न्तगत गोपुच्छा यति का बोध होता है।

---

(1) पं0 अहोबल / संगीत पारिजात ध्याय / श्लोक–52,53

4: गायन क्रिया में जब मध्य लय प्रस्तुति करते हुए, द्रुतलय में तान लेकर फिर मध्य लय में लौट आते है। इस प्रकार की प्रस्तुती में डमरू यति के अंश दिखते है।

वर्तमान परिपेक्ष्य में अवनद्ध वादन विधि में लय का प्रयोग कई तरह से किया जाता है। जिनको हम यति के किसी न किसी रूप जोड़ सकते है। दक्षिण भारतीय ताल पद्धति में यति का प्रयोग तथा उसका नाम जीवित है। मध्य युग में पाँच यतियों के अतिरिक्त यह विषम यति का भी उपयोग किया जाता है। दक्षिण पद्धति में यति का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है, एक पद यति इसके अन्तर्गत मृदंग वादक व तालधारी प्रधान लय को यथावत रखते है और गायक अपने गायन में बोल संख्या को कम–ज्यादा कर यति को प्रस्तुत करते है। जब मृदंग वादन अक्षरों के बढ़ते हुए यति को प्रयोग करते है तो गायक और तालधारी मुख्य लय को स्थिर रखते है। वर्तमान संगीत पद्धति में चाहे उत्तर भारतीय संगीत पद्धति हो या दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति दोनों में यति के संबंध में एक समान धारणा है, कि दोनों संगीत पद्धतियों में मुख्य लय कायम रहती है।

दक्षिण ताल पद्धति में अलग–अलग यतियों का लय क्रम लघु, गुरु अंगों के घटते–बढ़ते भाव से प्रस्तुत होता है तथा उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में अंगों के स्थान पर मात्रा के घटते–बढ़ते क्रम से यति को प्रस्तुत किया जाता है। प्राचीन संगीत पद्धति में यति प्रयोग के द्वारा ताल की प्रधान लय बदली जाती थी, परंतु वर्तमान परिपेक्ष्य में ताल पद्धति में ताल की मुख्य लय कायम रहती है। उसी लय के अंतर्गत यति के नियमों के माध्यम से बोल, मात्रा, अक्षर या अंग रखे जाते हैं। वर्तमान परिपेक्ष्य में यतियों का प्रयोग प्राचीन संदर्भ में न प्राप्त होकर केवल लय क्रम के स्वरूप में प्राप्त होता है गायन तथा वादन के अर्न्तगत यति का लोप हो चुका है किन्तु यतियों के नियम तथा लक्षणों के आधार पर लय प्रयोग देखने को मिलता है। अवनद्ध वाद्यों में वर्तमान समय में संगति के अलावा उनमें एकल वादन भी प्रस्तुत किया जाता है, तब इन यतियों के अलग–अलग स्वरूप बंदिशों के माध्यम से स्पष्ट होते है।

उदाहरण के रूप में गत टुकड़ा समायति में पंजाब घरानें का मिश्र जाति की बंदिश–[1]

धागेनधिटधिट	धागेनधिंनतक	नतकधिंनतक	धिंनकधिंनतक

(1) भावसार गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / गत–28

धात्रकधिटधिट	धिंनकधिंनतक	धिटधाधिटधागे	तिरकिटतक–धा–गिऽनग
धा– – –	तिरकिटतकधा–गिऽनग	धा– – –	तिरकिटतकधा–गिऽनग
धा X			

उदाहरण के स्त्रोतागता यति रूप में तबले की एक बंदिश– चतुरस्त्र जाति टुकड़ा(1)

धा––धिं तकिटधिं गिऽनगतिरकिट तकिटधिंनकधिंन धा X	नकधिंन नकधिंन तकता–तिरकिट धागेनधात्रकधिंन	तकिटधिं धागेनधा धा–––त्रकधिंन धा–––त्रकधिंन	नकधिंन त्रकधिंन तकिटधिंनकधिंन धा–––त्रकधिंन

उदाहरण के रूप में वर्तमान समय की तबले की बंदिश के रूप में गोपुच्छा यति को चतुरस्त्र जाति में दर्शया गया है (2)

धागेतिट गदि–न –––गे –––न्त धा X	तागेतिट किटतक ––न्त् धा–––	गदिगन दत–तिरकिटतक धा––– –––गे	नागेतिट कत्–– –––गे ––न्त

उदाहरण में मृदंगा यति में चक्रदार परन(3)

कड़धे–ता गदिगन ग–दि– गदिगन तिटकता कड़धेतिट नागेतिट	कड़धेतिट नागेतिट ग–न– धा–तिट गदिगन धागेतिट ग–दि–	धागेतिट ग–दि– धा––– कतागदि धा––– तागेतिट ––तिट	तागेतिट ––तिट तिटकता गनधा– कड़धे–ता गदिगन ग–दि–

(1) भावसार गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / टुकडा–33
(2) भावसार गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / गत–81
(3) भावसार गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / गत–53

ग–न–	धा–––	तिटकता	गदिगन
धा–तिट	कतागदि	गनधा–	तिटकता
गदिगन	धा–––	कड़धे–ता	कड़धेतिट
धागेतिट	तागेतिट	गदिगन	नागेतिट
ग–दि–	––तिट	ग–दि–	ग–न–
धा–––	तिटकता	गदिगन	धा–तिट
कतागदि	गनधा–	तिटकता	गदिगन
धा			
X			

पिपीलिका यति में बंदिश– चतुरस्त्र जाति में पिपिलिका यति का टुकड़ा[(1)]

गे–तिरकिटतक	तकिटधा	–ताकिटधा	तकिटधा–
––तकिट	धा–––	धागे	तिट
गिनतरा–न	धा–	कतगे–तिर	किटतकतकि–ट
धा–गे–तिर	किटतकतकि–ट	धा–गे–तिर	किटतकतकि–ट
धा			
X			

गायन तथा स्वर वाद्यों के अर्न्तगत भी आलाप के माध्यम से राग विस्तार में लय के घटते–बढ़ते क्रम विभिन्न प्रकार की यतियों का स्वरूप प्राप्त होता है। गायन में तानों का उपयोग करते समय कई बार स्वरों का क्रम विलम्बित से द्रुत प्रदर्शित किया जाता है तथा इसके अतिरिक्त द्रुत से मध्य होते हुए विलम्बित लय क्रम में तानों का प्रयोग होता है

उदाहरण–राग जयजयवन्ति की तान–

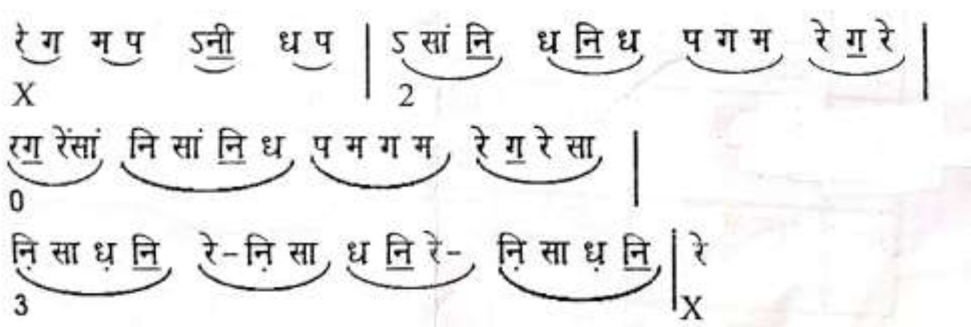

(1) भावसार गौरांग / बंदिश–ए–तिनताल / गत–32

इसी प्रकार इसका उल्टा क्रम आरम्भ में द्रुत फिर मध्य तथा अन्त में विलम्बित से गौपुच्छा लय होने का पता चलता है। इस क्रम में उदाहरण स्वरूप मालकौंस राग की तान इस प्रकार प्राप्त होती है।

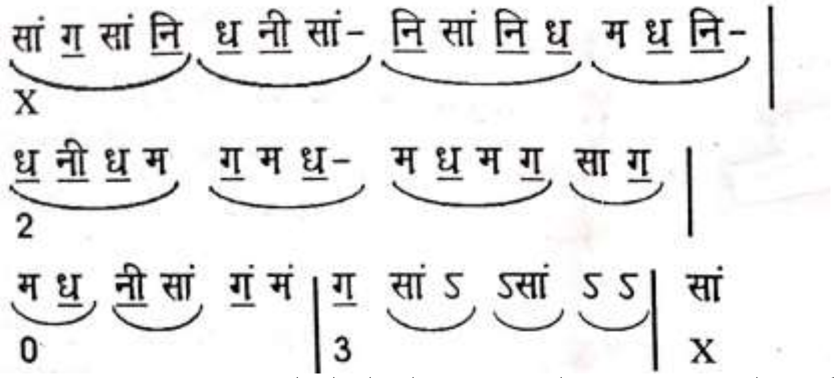

इसी प्रकार यदि उत्तर भारतीय ताल के ठेकों के स्वरूप को नाट्यशास्त्र में वर्णित यतियों के आधार पर दिखे तो उनके स्वरूप कुछ इस प्रकार से प्राप्त होते है। जहां काल का मान अधिक है वह विलम्बित लय में तथा जहां काल का मान कम हो वह द्रुत लय में दर्शित होते है। उदाहरण–

क्र0	ताल नाम	स्वरूप	गति	यति
1.	एकताल	ऽऽ।।	विलम्बित से द्रुत	स्त्रोतागता
2.	बसंत	000।।।	द्रुत से विलम्बित	गोपुच्छा
3.	आडाचौताल	।ऽऽऽ	द्रुत से विलम्बित	गोपुच्छा
4.	सूलताल	ऽ। ऽ	आदि, अंत में विलम्बित एंव बीच में मध्य	पिपीलिका या डमरू
5.	धुमाली	।ऽ।	आदि, अंत में द्रुत एंव बीच में मध्य	मृदंगा
6.	तीनताल	।ऽ।	आदि, अंत में द्रुत एंव बीच में मध्य	मृदंगा

इन सभी तथ्यों का विश्लेषण करने पर शोधार्थी का मानना है कि नाट्यशास्त्र से मध्य युग के दश–प्राणों में यति ताल का अंग बनी। वर्तमान समय में भी यतियों का प्रयोग कहीं अवनद्ध वाद्य के वादन विधि में बंदिशों तो कहीं लय क्रम में देखने को मिलता है। इस प्रकार कह सकते हैं, कि नाट्यशास्त्र में ताल लक्षण वर्तमान ताल लक्षण यति के माध्यम से संबंध जुड़ा हुआ प्रतीत होता है।

4:2:10 प्रस्तार प्राचीन ताल पद्धति में लघु गुरु आदि ताल अंगों से किसी एक या एक से ज्यादा अंगों से आधारित जो अनेक प्रकार होते हैं या बनते हैं, उसी निर्माण विधि को प्रस्तार कहा जाता है। प्राचीन संगीत पद्धति में लघु गुरु आदि इकाइयों या अंगों को प्रस्तार कहा गया है। प्रस्तार के पांच भेद इस प्रकार हैं– द्विअंग, त्रिअंग, चतुरंग, पंचांग तथा षष्ठांग। मार्ग तालों में त्रिअंग प्रस्तार कहा गया है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में लघु, गुरु तथा प्लुत यह तीन अंग ही भरत मुनि द्वारा वर्णित किया गया है। नाट्यशास्त्र भरतमुनि नें दो मुख्य तालों का वर्णन किया है–चतुरश्र तथा त्र्यस्त्र। भरत मुनि ने इन दोनों तालों के अन्य तालों के मिश्र तथा संकीर्ण भेद भी कहे हैं। संगीत रत्नाकर ग्रंथ में शारंगदेव ने ताल का खंड नाम भेद का भी उल्लेख किया है। खंड का अर्थ होता है, भेद करना, तोड़ना या भाग करना। चतुरश्र तथा त्र्यस्त्र ताल में प्लुत को गुरु में, गुरु को लघु में, खंडित करने से ही खंड ताल की निर्मिति होती है। लघु आदि अंगों को नियमबद्ध खंडित करना ही प्रस्ताव कहा जाता है, जबकि नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा खंड भेद का वर्णन नहीं किया है, किंतु अभिनव गुप्त की नाट्यशास्त्र टीका अभिनव भारती के अनुसार भरत मुनि द्वारा खंड भेद माने थे। ध्रुवाध्याय के अंतर्गत भंग, उपभंग तथा विभंग तालों का वर्णन प्राप्त होता है। इन ताल शब्द की उत्पत्ति भज्ज् धातु रूप में घञ के प्रत्यय लगाने से होती है, जिसका अर्थ है खण्ड होना, विभाजित होना, विभक्त होना या टूटना। जो इस ताल का स्वभाव शोधार्थी को प्रतीत होता है। ध्रुवाध्याय के अंतर्गत यह ज्ञान भी प्राप्त होता है कि षटपितापुत्रक जैसे विभिन्न तालों के चतुरश्र, त्र्यस्त्र खंड तथा मिश्र तालों के विभाजन से तालों के निर्मिति संभव हुई है तथा इन्हीं के अन्य भेदों से उपभंग, विभंग तथा लय तालों का उद्भव हुआ अर्थात् यह कहा जा सकता है कि चच्चत्पुट, चाचपुट आदि तालों के विभाजन खंड या प्रस्तार से ही मिश्रित होते हुए, यह ताल अस्तित्व में आए। प्रस्तार के अंतर्गत किसी तत्व या अंगों को विभक्त कर उनके कई रूप बनाए जाते हैं। पूर्व में इस प्रकार की रचना लघु प्लुत आदि से की जाती थी, परंतु इसकी रचना करने हेतु संख्या या अंकों का प्रयोग किया जाने लगा।

संगीत रत्नाकर में इन प्रस्तारों को बनाने के लक्षणों तथा नियमों को वर्णित किया गया है, जिसमें मात्र प्लुत के प्रयोग से 19 प्रकार के प्रस्तार बनने की बात कही गई है तथा परिवर्ती ग्रंथों में संख्या या अंको से निर्मित होने वाले प्रस्तारों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी, इनकी कुल संख्या 15000 बताई गई है, जिसको इस प्रकार वर्णित किया गया है– जिसमें झुमरा

ताल का पलट 15000 प्रस्तारों में बताया गया है जिसमें एक द्रुत, तीन लघु होगें।[1] जिसमें प्रकार के संदर्भ में विस्तार तथा पलट शब्द प्राप्त होता है। वर्तमान में प्रस्तार का प्रयोग देखने को नहीं मिलता तथा प्रस्तार शब्द से आशय कायदों तथा उनके पदों से है, जो पूर्णता उचित प्रतीत नहीं होता। प्रस्तार का कुछ प्रयोग तबले के संदर्भ में किया जाता है, जिसमें कुछ निर्धारित बोलो द्वारा रचना की जाती है। जिसे ताल प्रस्तार के स्थान पर बोल प्रस्तार कहा जाता है इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि प्राचीन काल से वर्तमान तक आते–आते ताल पद्धति के शास्त्रों में कई उतार–चढ़ाव व परिवर्तन तो आए, परंतु यह ताल पद्धति अपने आधार पथ से कभी विमुख नहीं हुई और उसे अक्षुण बनाए हुए है। नाट्यशास्त्र के अंतर्गत भरत मुनि ने जिन पाँच मार्गों की विधि पर विचार करते हुए, गायन विधि, जाति गायन नियम के साथ–साथ उपरीनिर्दिष्ट ताल उपादनों अर्थात् घटकों का वर्णन किया है। जिनको बाद के आचार्य ने प्राण की संज्ञा दी। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने केवल पाँच मार्गी तारों का वर्णन किया है तथा उनके द्विकल, चतुष्कल आदि भेदों द्वारा उनके रूप बदले जाते थे। मध्यकाल तक आते–आते इन तालों की संख्या 120 हो गई, जिनमें पांच मार्गी ताल, सात सलगसूड़ ताल तथा 108 अष्टोत्तर शत देसी ताल। कुछ आचार्यों ने ताल के केवल दो ही भेद कहे हैं– मार्गी ताल और देशी ताल, लेकिन कुछ आचार्यों ने मार्गी ताल सलगसूड़ ताल तथा संकीर्ण ताल इस तरह से तीन भेंद ताल के कहे हैं। वह ताल जिनमें दूसरे तालों की छाया दिखाई देती हो वह सलगसूड ताल कहा जाता है। सलगसूड़ शब्द से अर्थ है कि जो ताल प्रबंधों में प्रयोग होते थे वह सलगसूड़ ताल थे। स्मरण रहे कि भरत मुनि के समय में जो जाति गायन था, उसका स्थान प्रबंधों तथा देशी रागों ने ले लिया था, तथा इन प्रबंधों और देसी रागों के अनुकूल ही इन तालों का उस समय निर्माण हुआ। मानव हर रोज अपने जीवन में कोई नयापन अर्थात् नवीनता चाहता है, संगीत कला के अंतर्गत लगातार होने वाला परिवर्तन तथा विकास मानव की नवीनता की भूख का ही एक प्रभाव है। मानव के इसी विचारधारा के आधार पर ही संगीत कला में विकास तथा परिवर्तन हुआ शारंगदेव के काल तक आते–आते इन प्रबंधों की संख्या 300 हो गई थी, किंतु उनकी गहनता के कारण मात्र सलगसूड़ प्रबंध ही श्रोताओं के मन को प्रसन्न करते थे तथा इन प्रबंधों के साथ जिन तालों का प्रयोग होता था या किया जाता था, उनकी संख्या सात कहीं गई है, जिन्हें सलगसूड़

(1) पं0 पार्शवदेव / संगीत समयसार / अध्याय–8 / श्लोक–20

ताल कहा गया है। वर्तमान दक्षिण भारतीय ताल पद्धति का समस्त ताल विधान इन्हीं सलगसूड़ ताल पर ही आश्रित है। जिस समय भारतीय संगीत पद्धति दो धाराओं में विभक्त हुई, जिन्हें उत्तर भारतीय संगीत पद्धति तथा दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति के नाम से जाना जाता है, उसमें दक्षिण भारतीय ताल पद्धति के द्वारा सलगसूड़ तालों को धारण किया गया तथा उत्तर भारतीय ताल पद्धति ने देशी तालों को अपना आधार बनाया, जिसमें दोनों संगीत धाराओं ने अपने–अपने संगीत पद्धति की आवश्यकता के अनुसार नवीन रचनाओं का सृजन किया और उसको विकसित किया, किंतु दोनों ताल पद्धतियों का मूल आधार वही रहा जिसको मार्गी तालों के अंतर्गत भरत मुनि द्वारा अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में निदृिष्ट किया गया है।

4:3 संगीत में तालों की वर्तमान उपयोगिता

जिस तरह मनुष्य जीवन में निश्चित समय क्रम का आभाव सुख तथा समृद्धी का आभाव है। उसी तरह से ताल के आभाव से संगीत में उद्देश्य पूर्ति नहीं रहती ताल संगीत को एक निश्चित काल (समय) में बाँधता है। ताल संगीत में अलग–अलग सौन्दर्यपूर्ण शैलियों को विकास तथा निर्माण करता है। संगीत के संकलंन का एक मुख्य साधन ताल ही है।

यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः ॥[(1)]

स्वंय भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में वर्णित किया है कि ताल ज्ञान के आभाव से न कोई गायक हो सकता है, न कोई वाद्य वादक हो सकता है, न कोई नाट्यकार हो सकता है और न ही कोई नृर्तक हो सकता है क्योंकि गायन, वादन, नृत्य तथा नाट्य सभी ताल पर आश्रित है। इन्हीं तथ्यों पर विचार के पाश्चात् शोधार्थी द्वारा इन सभी विषयों (गायन, वादन, नृत्य तथा नाट्य) पर प्रकाश डालनें का प्रयास किया जा रहा है तथा इन विषयों में वर्णित ताल की उपयोगिता से अवगत कराना शोधार्थी का कर्तव्य है।

4:3:1 गायन के संदर्भ में

नाट्यशास्त्र के काल में गायन का तात्पर्य ध्रुवा से है क्योंकि भरत मुनि के समय जो गायन प्रचलित था उसे ध्रुवा की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र का बत्तिसवाँ अध्याय ध्रुवाध्याय है जिसके अर्न्तगत ध्रुवा त तथा ध्रुवा गीतों का वर्णन प्राप्त

---

(1) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–31 / श्लोक–485

होता है। ध्रुवा गीत में प्रयोग होने वाले ताल तथा ताल शास्त्र का भी अत्याधिक महत्व है। नाट्य के प्रयोग के समय अगल–अगल भावों की तीक्षणता (शीघ्रता) तथा रस की प्रवृत्ति के लिए अलग–अलग विषय अवसरों पर ध्रुवा गायन होता था। इसलिए ध्रुवा गीत का नाट्य के गन्धर्व में मुख्य स्थान माना गया है।[(1)]जिससे नाट्य के अर्न्तगत नाटककार को उनकी गति विधि तथा इच्छा को पूर्णतः अभिव्यंजना या स्पष्टीकरण मिलता है। इससे अन्य भरत मुनि द्वारा 'स्वर–ताल पदात्मकम्' गान्धर्व के तीन लक्षणों में पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए। ध्रुवा गीतों के प्रयोग ये माना है–

''यत्किन्चिदक्षरकृंत तत्सर्व पदसंज्ञितम्''

अर्थात् जो कुछ भी अक्षरों के द्वारा निर्मित किया जाता है। वह सभी पद या गीत होते है। यह गीत अपने अलग–अलग अंगों के योग से वध होकर ध्रुवा कहे जाते है।[(2)] नाट्यशास्त्र के अर्न्तगत नाट्य में गीत प्रकार का सबसे बड़ा योगदान ध्रुवा गीत का है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा सभी प्रकार के नाट्य में प्रयोग किए जाने वाले तत्वों को व्याख्यित करना मुख्य उद्देश्य रहा है और इसी चेष्टा से अभिनव गुप्त द्वारा अपनी टीका अभिनव भारती में ध्रुवागीत का वर्णन करते हुए कहा है। प्राण भूत तावत ध्रुवागान अर्थात् नारद आदि वीणा वादकों द्वारा जिन गीत के अंगों का वर्णो के अंग तथा सप्तरूपों के प्रमाणक त्र्यस्त्र और चतुरस्त आदि ऋगगाथा तथा पाणिका को गान के योग्य समझते हुए व्यवस्थित किया था वह ही ध्रुवा भूत कहे जाएगे अतः यह कहा जा सकता है कि गीताड्गं, सप्तरूप अंग और सप्तरूप प्रमाण की संज्ञा ही ''ध्रुवा'' है।[(3)]

निबंद्ध चानिबंद्ध च येन तेन द्विधा स्मृतम।
अतांल च सतालं च द्विप्रकार तदुच्यते।
सतांल च ध्रुवाअर्थेषु निबंद्ध सवैसाधकम्।।

अर्थात् पद के दो प्रकारों द्वारा निबद्ध और अनिबद्ध से पुनः दो प्रकार कहे गये है–सताल और अताल। सताल अर्थात् ताल के साथ और अताल अर्थात् ताल के बिना इस प्रकार दो भेंद कहे है। इनमें ध्रुवा के अर्थ में प्रयोग किया जाने वाले निबद्धपद ताल सहित कहा जाता

(1) पं0 दत्तिल / दतिल्लम / Introduction XIII music especially long integrate to the theatre as conceived in the Natyashastra theatrics long were known is Dhruva & theatrics music in genes gana.
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–29
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / पृ0–288

है अर्थात् ध्रुवा गीत स्वर व ताल में बद्ध वह रचना थी जो निबद्ध गान में आती थी जिस तरह से वर्तमान में राग संगीत के अर्न्तगत ध्रुवपद, ख्याल आदि गीत शैलियों के प्रकार निबद्ध गान के तालबद्ध प्रकार है, वैसे ही भरत मुनि वर्णित संगीत में ध्रुवा गीत था जो सताल कहा जाता था, अनिबद्ध का वह प्रकार होता है।

जिसके अर्न्तगत स्वर तथा पद होते है पर ताल का प्रयोग इनमें नहीं होता तथा ऐसी रचनाएँ अताल कही जाती है। इस समय ध्रुवा नाट्य में प्रयोग किए जाने वाले शास्त्रों के नियम से गीत समझे जाते थे तथा ध्रुवा गीत उस समय का प्रामाणिक गीत था, जिसके अर्न्तगत स्वर, अलंकार, यति, वर्ण छन्द आदि का शास्त्र के नियम अनुसार विधान होता था।

नियताक्षर सम्बंद छन्दोयति समन्वितम्।
निबद्धन्तु पंद ज्ञेयं सतालयमाक्षरम।।(1)

अर्थात्– अभिनव गुप्त द्वारा कहा गया है– **"अर्थेषु रसोचितेषु निबद्ध यदीलक पद तद् ध्रुवा"** अर्थात् जो अर्थ तथा रसों में निबद्ध पद होता है, वह ध्रुवा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अभिनव गुप्त द्वारा यह भी वर्णन किया गया है कि ध्रुवा गीत का प्रयोग देवस्तुति के लिए भी किया जाता था। इस कारण से ध्रुवा गीत में स्त्रोत भी रहा करते थे। वैसे तो ध्रुवा गीत का मुख्य प्रयोग नाटक के अलग–अलग विषय तथा अवसरों को रसात्मक नियम से प्रस्तुत करना था। इसलिए भी भरत ने ध्रुवा गीत के प्रयोग करने के रीति को पाँच प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया है।

प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाऽक्षेपिकी स्मृता।
प्रासाक्षिकी तृतीय चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा।।
निष्क्रामिकी च विज्ञेया पन्चमी वृतकर्मणि।।(2)

अर्थात् प्रथम प्रवेशिका, दूसरी आक्षेपिका ध्रुवा, तीसरी प्रासादिकी, चौथी अन्तर तथा पाँचवी निष्क्रामिकी कही जाती है। भरत मुनि द्वारा इन ध्रुवाओं के अठारह अंगों का वर्णन किया साथ ही धुवा गीत को चार गीत प्रकारों में व्यक्त किया है। जिस प्रकार सप्तगीतों में उपस्थित जो कलाएँ तथा अंग जिस तरह से छंद रूप में प्रस्तुत होती है। भरत मुनि का वर्णन है कि छंद के बिना किसी प्रकार के गीत में पदों की व्याख्या नहीं हो सकती। भरत मुनि द्वारा

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–32
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–26–27

बताए गए छंदों को आधार मानकर ही गायन शैलियों के अनुरूप तालों का निर्माण हुआ। ध्रुवाओं में प्रयोग होने वाले तालों का रंगमंच नाट्य तथा नाट्यकार में व्यवहरों को व्यक्त करता है। भरत मुनि ने ध्रुवा ताल में त्र्यस्त्र तथा चतुरस्त्र तालों के प्रयोग का नियम कहा है। इन तालों का प्रसंगों के अनुकूल ध्रवागीतों में षटकल और अष्टकल रूप में तालों का प्रयोग किया जाता है।

त्र्यस्त्रश्च चतुरस्त्रश्च तालः कार्यो ध्रुवात्मकः
षटकलोदृष्टकलश्चैव यस्तु पूर्ण क्रकीर्तित।।[1]

ध्रुवा गायन के सत्व तथा व्यवहार को ध्यान में रखते हुए भरत मुनि द्वारा उनके ताल के नियमों का अनुसरण नाट्यशास्त्र के इक्तिसवें अध्याय के अन्र्तगत किया गया है। जिसे लय, काल, यति, ग्रह, मार्ग आदि का वर्णन एक साथ किया गया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि भरत मुनि द्वारा व्याख्यित संगीत ही संगीत का आधार है, जो समय के साथ ताल–मेल करते हुए वर्तमान में भी स्थापित है। गायन शैली के वर्णन में जिस ध्रुवा गीत को वर्णित किया गया है, वह ताल की छंदों द्वारा योजना भरत मुनि द्वारा ही स्थापित की गयी है। भरत मुनि के मतानुसार गायन में प्रयुक्त होने वाले अलंकार, छंद, यति, पाणि आदि ध्रुवा के ही प्रकार है, जो 13वीं, 14वीं शताब्दी तक आते–आते ध्रुवपद बना तथा इस ध्रुवपद के पूर्व मुख्य गायन शैली के रूप में प्रबन्ध, रूपक तथा वस्तु का प्रचार–प्रसार सर्वाधिक था। जब गायकी के अनर्तगत ध्रुवपद का अगमन हुआ तब ध्रुवपद की कई पदों का भी प्रचार होने लगा। ध्रुवपद शैली के अन्र्तगत गायक को स्वर, लय तथा ताल का भी सम्पूर्ण ज्ञान होता था और आज भी ध्रुवपद गायकों को ही सर्वोत्तम गायकी माना है तथा ध्रुवपद के समक्ष अन्य गायकी को क्षुद्र या निम्न कहा है। ध्रुवाओं को गन्धर्वों का सर्वाततम सहित्य कही है, जो छंद ताल, पद आदि से युक्त विधान को कहा है।

गान्धर्व यन् मया प्रोक्तां स्वरतालपदात्मकम् पदं तस्य भवेद्।।[2]

अर्थात् गान्धर्व के अन्र्तगत प्रयुक्त होने वाले स्वर, ताल तथा पद के परिपूर्ण पदों को ही ध्रुवा कहा है। भरत मुनि द्वारा वर्णित यही गान ध्रुवपद तथा ध्रुवपद से ही गायकी की नवीन शैलियों को उद्भव हुआ जो ख्याल, टप्पा ठुमरी आदि। ध्रुवा सर्वप्रथम नाट्य को व्यक्त करने

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–15
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–27

प्रसगों के अर्न्तगत प्रयुक्त किए जाते है। जिनमें वर्ण, पाणि, यति लय आदि का प्रयोग था तथा प्राचीन समस्त ध्रुवाओं के अर्न्तगत रस तथा भाव का समन्वय होता था, जो नाट्य के अनुकूल होते व उस प्रसंग के अनुसार ही परिवर्तित होते थे और यही रस भाव वर्तमान में भी यथावत प्राप्त होते है। जिसमें देवस्तुति की जाती है। जिसमें श्रृगांर तथा करूण भाव का प्रभाव सर्वाधिक होता है। इसकी भाषा संस्कृत व अर्ध–संस्कृत में प्राप्त होती है। ख्याल के भारत में प्रवेश के पश्चात् ध्रुवपद में ख्याल गायकी का इतना अधिक प्रभाव व दोनों के सम्मिश्रण होने लगा जिस कारण ध्रुपद को लंगड़ा ध्रुपद कहा जाने लगा।(35) गायन के अर्न्तगत ध्रुवा गायन शैली समस्त गायन शैलियों में सर्वोच्चतम तथा मुख्य आधार है। जिसके अर्न्तगत छंद आदि को आधार मानते हुए, गायन शैलियों का उद्भव सम्भव हुआ। इस तरह भरत मुनि द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाला ध्रुवा प्रबन्ध, रूपक, वस्तु और ध्रुवपद के मार्ग से होते हुए, वर्तमान में उपस्थित गायन शैलियों ख्याल, टप्पा ठुमरी आदि में जीवित है। समस्त गायन के शास्त्र का आधारभरत मुनि द्वारा वर्णित ध्रुवा ही है। जिनमें स्वर ताल तथा पद आदि के नियम शास्त्र आधारित है।

नैस्तु किन्वद् वृत्ते हि पदं गानकृताश्रयम्।।[(1)]

आधुनिक युग में समस्त गेय शैलियों में भरत मुनि द्वारा वर्णित तालों के ही नियम निर्दिष्ट है।

यद्वृत्तं तु पदं गाने तादृशं वाद्यमिष्यते।।[(2)]

अर्थात् जिस प्रकार का गायन हो रहा हो उसके छंद तथा साहित्य के अनुसार ही वाद्य पर वादन की योजना को निधारित किया जाना चाहिए। वर्तमान में प्रयुक्त होने वाले ध्रुवपद, धमार, टप्पा, ख्याल, सुगम संगीत आदि में विभिन्न प्रकार की तालों का प्रयोग गायन शैली के साहित्य, रूप तथा चलन को ध्यान में रखते हुए किया जाता है। यह समस्त लक्षण नियम तथा विधानों का आधार भी नाट्यशास्त्र में विधित है।

त्र्यस्त्रश्च चतुरस्त्रश्च तालः कार्यो ध्रुवात्मकः षटकलोदृष्टकलश्चैव।[(3)]

अर्थात् तिस्त्र तथा चतुरस्त्र जाति के तालों का प्रयोग षटकल तथा अष्टकला मात्राओं में ध्रुवा के अनुकूल ही करना चाहिए। इस प्रकार से देखा जाए तो भरत मुनि का स्वर ताल पदात्मक

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–432
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–191
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–15

ध्रुवा ही वर्तमान समय में नवीन रूप में गायन शैलियों में दिखायी पड़ती है, और उसी प्रकार ताल भी ताल की भूमिका भी समान रूप से चल रही है।

4:3:2 वादन के संदर्भ में

हिन्दुस्तानी शास्त्री,य संगीत के इतिहास में वाद्यों का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। आदि काल से ही संगीत मानव मन मस्तिष्क के भावों की अभिव्यक्ति को प्रकट करने का माध्यम रहा है। इन्हीं भावों को व्यक्त करने हेतु संगीत का उद्भव विभिन्न प्रकार की ध्वनियों के माध्यम से हुआ और इन्हीं ध्वनियों के आधार पर वाद्य यंत्रों की उत्पत्ति आवश्यकतानुसार होती गयी। प्राचीन काल से ही मानव द्वारा वाद्यों का प्रयोग अलग–अलग तरीके से होता रहा है। जिस प्रकार संस्कृति का विकास होता गया उसी प्रकार वाद्य भी विकसित होते गए। वाद्यों का सर्वप्रथम वर्णन सांगीतिक ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के 28वें अध्याय के अर्न्तगत प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि भरत मुनि मुख्य प्रतिपाद्य नाट्य था। इसी नाट्य की पूर्णतः व इसकी वृद्धि हेतु भरत मुनि ने गीत तथा वाद्य का एक साथ प्रयोग ''गान्धर्व'' (संगीत) का सहारा लिया। नाट्य के अर्न्तगत रंगमंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले हाव–भावों की अभिव्यक्ति हेतु गीत तथा वाद्य अति आवश्यक थे। नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनव गुप्त द्वारा अभिनव भारती में भी यह कहा गया है कि गायन तथा वादन (गान्धर्व) के उचित प्रयोग से नाट्य की सफल योजना सम्भव है।[(1)]

नाट्यशास्त्र के अर्न्तगत संगीत(गान्धर्व) का स्पष्ट वर्णन न करते हुए, नाट्य के अर्न्तगत किया गया है। नाट्य और संगीत के सुमिश्रण के प्रयोग को वर्णित किया है। नाट्यशास्त्र में नाट्य व अभिनय को प्रधान अंग मानकर उसके सहायक के रूप में गान्धर्व (संगीत) को स्वीकारा है। इस कारण भरत मुनि द्वारा नाट्य व गान्धर्व को एक–दूसरे का पूरक माना गया है। भरत मुनि द्वारा गान्धर्व तथा नाट्य को एक समान महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि गान्धर्व का अर्थ मात्र गायन या कंठ संगीत नहीं है। गान्धर्व गीत तथा वाद्य दोनों के सामन प्रयोग से निर्मित हुआ है। गान्धर्व का अभिप्राय स्वर तथा लय दोनों है। यह स्वर के साथ–साथ ताल आदि का भी प्रस्तुत करने का मध्यम है। इस कारण भरत मुनि द्वारा निर्मित यह गान्धर्व दो तत्वों स्वर तथा ताल दोनों को उत्पन्न करता है। स्वर और ताल को भिन्न–भिन्न शब्दों से व्यक्त करने

---

(1) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–28 / श्लोक–433 / पृ0–398

के स्थान पर दोनों के संयुक्त शब्द के रूप में गान्धर्व शब्द का प्रयोग भरत मुनि द्वारा किया। इसी संदर्भ में भरत मुनि ने गान्धर्व के अर्न्तगत अतोद्य का विधान स्वर तथा ताल को स्पष्ट करने के उद्देश्य के किया इसके विषय में अभिनव गुप्त की टीका में कहा है कि

सिद्धि स्वरास्तथातोद्य गांन रड्ंग च संग्रहः इत्युक्तः।[1]

अर्थात्– भरत मुनि द्वारा स्वर तथा ताल के लिए अतोद्य विधान का वर्णन किया गया है। भरत मुनि द्वारा वर्णित अतोद्य शब्द का यदि विवेचन किया जाए तो अवनद्ध में ''आ'' उपसर्ग से तुद्ध धातु के प्रयोग से बना है। जिसका अर्थ है अंगुली, गज, मिजराब या किसी दों वस्तुओं द्वारा टकराव करने पर ध्वनि उत्पन्न करने का जो आधार होता है। वह आतोद्य कहलाता है। इस प्रकार देखा जाए, तो भरत मुनि ने द्वारा वर्णित आतोद्य शब्द को वर्तमान संगीत में ''वाद्य'' को समान अर्थ से युक्त कर सकते है। भरत मुनि ने नाट्यशात्र के अठ्ठाइसवें अध्याय में तत्, अवनद्ध घन और सुषिर वाद्यों का लक्षणों को बतातें हुए, इन्हें चार प्रकार के आतोद्य कहे है।–

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोधं लक्षणान्वितम्।।[2]

अर्थात्– भरत मुनि ने वर्णन किया है, कि इन चार भागों में तत्, अवनद्ध, घन तथा सुषिर। इन्हीं चार भागों में सभी प्रकार के वाद्य सम्मिलित को जाते है। अतः इन्हीं वाद्यों के नियम तथा उनका प्रयोग संबधी वर्णन ही भरत मुनि ने आतोद्य–विधि कही है। भरत मुनि द्वारा वर्णित इस ''आतोद्य–विधान'' का आधार लेकर अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव भारती में आतोद्य को स्वर तथा ताल वाद्यों में वर्गीकृत किया है। उन्होनें भरत के चतुविर्धि स्थान पर वाद्यों को ततातोद्य और अवनद्ध इन दो भागों का का वर्णन किया है। ततातोद्य के अर्न्तगत सभी प्रकार के स्वर वाद्य तथा अवनद्ध के अर्न्तगत सभी प्रकार के ताल वाद्यों का वर्णन किया गया है।[3] आधुनिक समय में संगीत के विषय में देखा जाए तो यह प्रत्यक्ष रूप

(1) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–28 / पृ0–1
(2) बाबूलाल शुक्ल शास्त्री,(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय– 32 / श्लोक–29
(3) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–28 / पृ0–2 (सुषिरस्यस्वरात्म कत्वेऽपित दवन्तरतस्यान किधानमितिने)

से दृष्टिपात होता है कि, भरत मुनि द्वारा वर्णित आतोद्य विधान वर्तमान संगीत में पूर्ण रूप से मान्य है।

भरत काल से लेकर वर्तमान युग में आते–आते संगीत में कई प्रकार से संशोधन आवश्यकतानुसार होते रहे है। जिनमें कई देशी–विदेशी जातियों का प्रभाव उनकी संस्कृति के अनुकूल होता गया और संगीत के संदर्भ में प्रयोग होने वाले शब्दों में भी परिवर्तन होता गया, परन्तु संगीत की आधारभूत सरंचना वर्तमान में भी भरत की परम्परा के अनुसार ही चलती आ रही है।ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि संगीत शब्द भरत के गान्धर्व का ही अधुनिक नाम है, जो संगीत रत्नाकर काल से प्रचलन में आया। डॉ0 मुकुन्द लाट द्वारा भी इस तथ्य को स्वीकारा गया है। परन्तु भरत द्वारा गान्धर्व को नाट्य का अंग माना और गान्धर्व तथा नाट्य एक साथ प्रयोग किया। जब भरत द्वारा गान्धर्व को नाट्य से अलग किया गया तब गान्धर्व शब्द का प्रयोग बायन, वादन तथा नृत्य तीनों के सम्बन्ध में सम्बोधित किया जिसे संगीत मानकर इसकी सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। संगीत रत्नाकर में पं0 शारंगदेव द्वारा–

''गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्छयते।।[1]''

इस प्रकार वर्णन करते हुए, गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों के सम्मिलित रूप को संगीत माना है। अतएव कहा जा सकता है कि गान्धर्व का स्वतन्त्र विकास होने के साथ ही रत्नाकर काल से गान्धर्व शब्द के स्थान पर ''संगीत'' शब्द का प्रचलन होने लगा। भले ही संगीत रत्नाकर के समय में गान्धर्व शब्द का स्थान संगीत शब्द ने ले लिया हो परन्तु आधुनिक संगीत का स्वरूप भरत के गान्धर्व के अधिक निकट है। आधुनिक संगीत की भाँति ही भरत मुनि द्वारा वर्णित गान्धर्व में भी गायन का मुख्य तथा प्रथम स्थान दिया गया है, जिसका विवेचन भरत मुनि ने किया है। भरत मुनि ने स्वर की उत्पत्ति मानव कंठ तथा वंशी के द्वारा मानी है। और इसे ''तन्त्रीकृकतातोद्य''[(2)]कहा है। इसके अलावा कंठ संगीत द्वितीय मुख्य विशेषता शब्द का स्पष्ट रूप का होना है। इसी प्रकार भरत मुनि द्वारा गायन के सन्दर्भ में

(1) चौधरी सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / श्लोक–21 / पृ0–12
(2) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–28 / पृ0–8

गान्धर्व के अर्न्तगत स्वर तथा ताल में पद को मान्यता दी है। स्वर, ताल और पद के सम्मिलित रूप से गान्धर्व शब्द अपने पूर्ण रूप को प्राप्त करता है।

गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं स्वरतालपदाश्रयं।।(1)

इसी प्रकार वर्तमान में भी गायन को उत्कृष्ट स्थान दे समस्त वाद्यों को उसके आश्रित माना है। भरत मुनि ने स्वर तथा ताल के अर्थ के प्रयोग में आतोद्य शब्द को कहा है। जिसका मतलब किसी का आपस में टकराना, घर्षण करने या आघात करने से स्वर की उत्पत्ति होती हो अर्थात् जितने भी तन्त्री वाद्य, अवनद्ध वाद्य, घन वाद्य आदि सभी आतोद्य कहे जाते है। जो आज भी वाद्य या शब्द से संबोधित किए जाते है।

नाट्यशास्त्र काल में जिस प्रकार से नाट्य के समय अलग–अलग वाद्यों से नृत्य, नाट्य में सौन्दर्य तथा रस की प्रधानता उत्पन्न करने हेतु पुष्कर, वीणा, वंशी आदि सभी वाद्यों का एक साथ वादन किया जाता था।

रसभावे प्रयोगं तुज्ञात्वा योज्यं विधानतः।(2)

उसी प्रकार आज भी सभी वाद्यों का एक साथ वादन किया जाता है। जिसे वृन्दवादन(Orchestra) शब्द से संबोधित किया जाता है। इसी तरह से एकल वादन का भी प्रचलन उस समय था । जब नाट्य प्रयोग में खाली समय भरने हेतु एकल वादन भरत काल में भी किया जाता था। आज भी उसी प्रकार गायन, वादन या नृत्य में वादक द्वारा बीच–बीच में जब खाली स्थान मिलता है, तो एकल वादन करने कि प्रथा है, जिससे कार्यक्रम की और भी शोभा बढ़ जाती है। नाट्यशास्त्र काल में भी गीत तथा वाद्यों का उपर्युक्त प्रचार था तथा गीत वाद्य (गान्धर्व) का वर्णन नाट्य के अंग के रूप में प्रचलित था और इसका प्रयोग आवश्यक कहा जाता है। गीत, वाद्यों का यही नियम सर्वमान्य है। इसी कारण वर्तमान संगीत के परिपेक्ष्य में भी यही नियम स्वीकार किए जाते है।

4:3:3 नृत्य के संदर्भ में

गायन तथा वादन के पश्चात् संगीत में प्रयुक्त होने वाली अन्य विधा (नृत्य) को भरत मुनि द्वारा महत्वपूर्ण कहा गया है। नृत्य को नाटक का ही एक संस्कार कहा है, जिसके द्वारा

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय– 28 / श्लोक–8
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–17

नाट्य में श्रंगार भाव का सृजन होता है। नृत्य की शिक्षा भरत मुनि ने नटराज शिवजी से ग्रहण अर्थात् प्राप्त की, तथा शिवजी की आज्ञा द्वारा भरत मुनि ने अपने नाट्य प्रयोग में नृत्य को एक विशेष स्थान दिया। संध्याकाल में जब शिवजी अपनी मस्ती में नृत्य करते थे, उस समय भगवान शिवजी द्वारा प्रयोग किए गए करण अंगहार आदि को शिवजी के गण तण्डु मुनि द्वारा इन सभी अंगहारों और करणों आदि को संग्रहित कर तथा शास्त्रबद्ध किया गया, बाद में शिवजी की आज्ञा का पालन करते हुए, इन सब की शिक्षा तण्डु मुनि ने भरत को दी। इस तरह से सर्वप्रथम शिवजी का नृत्य तण्डु मुनि द्वारा शास्त्रबद्ध करने पर तांडव कहा गया। इस नृत्य को धारण करने वाले दूसरे विद्वान भरत मुनि हैं, जिन्होंनें इस नृत्य की नाट्यशास्त्र में विस्तारपूर्वक मीमांसा की गयी है। यही वैचारिक विवरण भारतीय नृत्य शैलियों का आधार है। प्राचीन शास्त्रों के अंतर्गत नटन या नर्तन कला के तीन भेद कहे गए हैं। नाट्य नृत तथा नृत्य, इन तीनों को नाट्य तथा नृत की मुख्य कलाएं कही गई हैं। नाट्यशास्त्र में भरत मनि द्वारा नृत तथा नृत्य इन दोनों कलाओं का ही वर्णन किया गया है तथा शिवजी के तांडव को नृत की संज्ञा दी गई है तथा भरत मुनि द्वारा मुख्य तत्व नाट्यशास्त्र में इस प्रकार बताए गए हैं– करण, अंगहार, रेचक, स्थान, चारी, मंडल, नृत्य हस्त, पिण्डीबन्ध आदि तथा सभी तत्वों का वर्णन करते हुए चतुरस्त्र तथा त्र्यस्त्र तालों के उपयोग करने की विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। भरत मुनि के बाद के आचार्यों ने भरत मुनि द्वारा वर्णित विधान के अनुकूल ही नए–नए करण, चारी आदि का प्रयोजन किया। मध्यकालीन शास्त्र ग्रंथों में इनकों स्पष्ट करते हुए, देशी करण व देशी चारी आदि के स्वरूप में व्यक्त किया है। इस तरह से नृत भाग का भारतीय शास्त्री,य नृत्य शैलियां में अपने–अपने चलन से स्वतंत्र निर्माण व विकास हुआ। भारतीय संस्कृति के अंतर्गत जितनी भी विधाएं प्राप्त होती हैं, उन सभी में ललित कलाएं समय के साथ पीढ़ी दर पीढ़ी प्रौढ़ होती गई। संगीत की विधा में नृत्त, नृत्य व नाट्य से जुड़े व्यक्ति को नट की संज्ञा दी जाती है। उत्तर वैदिक काल में गायकों के लिए सूत शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। इन्हीं सूत को महाभारत काल में गायक कहा जाने लगा व नृतकों को शैलुष नाम से संबोधित किया जाता था और जो स्तुति का पाठ करते थे, उन्हें मागध। बाद में मागध के लिए बंदीजन, चारण, भाट आदि शब्द प्रयोग किए जाने लगे। भरतमुनि के समय नटों को कुशीलव कहा जाता था। भरत मुनि के पूर्व भी कुशाशव व शिलालीन नामक दो नट संप्रदाय की चर्चा पाणिनी के अष्टाध्यायी में भी प्राप्त होती है। शब्द कल्पद्रुम में उल्लेख प्राप्त होता है, कि बाल्मीकी द्वारा रामायण का गायन

जब लव–कुश द्वारा कराया गया, जिन्होंने कथा गान को स्वेच्छा से धारण किया, वह कुशीलव कहलाए। जब बाल्मीकि जी द्वारा नाट्यशास्त्र को स्वेच्छा से धारण कर प्रचारित किया जाने लगा, तो वह भी कुशीलव कहलाए।[1] जिनका वर्णन नाट्यशास्त्र में भरत मनि द्वारा किया गया है।

नानातोद्यविधाने प्रयोगयुक्त प्रवादनेकुशलः।।
कुशीलवदातव्याधीत यस्मात् कुशीलवः स्यात्।।[2]

अर्थात्– विभिन्न प्रकार के वाद्यों का वादन करने में परिपूर्ण या दक्ष हो तथा कथा गान में निपुण हो, उन्हें कुशीलव कहा जाता है। नाट्यशास्त्र भरतमुनि द्वारा नाट्य में प्रयोग किए जाने वाली रीती में वाद्यकारों की भूमिका निभाने वाले की चर्चा कुशीलव के रूप में की गया है।

कुशीलव को संगीत रत्नाकर में चारण की संज्ञा दी गई है, इसका वर्णन इस प्रकार है–

किंकिणीवाद्यवेदी च वृत्तों विकटनर्तकैः।।
मर्मज्ञः सर्वरागेषु चतुरश्चारणों मतः।।[3]

वह जो किंकिणी अर्थात् घुंघरू वाद्य का ज्ञाता, विकृत नाटककारों के मध्य रहने वाला तथा सभी रागों का ज्ञाता (मर्मज्ञ) वह उसे चारण नाम से संबोधित किया जाता है। किंकिणी शब्द का अर्थ है, घुंघुरू वाद्य से है, जो ताल देने का कार्य करता है। प्रो0 आर0बी जागीरदार ने इन चारणों को उत्तर वैदिक काल में मागधों से संबोधित किया है। कुशीलव, चारणों तथा भांटो इन सभी परंपराओं को एकत्रित कर कथक नृत्य की रचना हुई। भारतीय शास्त्री,य संगीत के विधा 'नृत्य' में कथक का सर्वोपरि स्थान है। तांडव लास्य के पश्चात् सभी प्रयुक्त होने वाले कुशीलव, चारण आदि सभी से स्वतंत्र नृत्य शैली का विकास हुआ, जो समय के के साथ साथ होने वाले परिवर्तनों को अपने में समाहित करता गया, जिसमें तांडव की चारी लास्य के अंगहार व देसी नृत्य के सभी भाव आदि का उचित सममिश्रण इस नृत्य में है। इसे मध्य युग में नटवरी कहा गया है, जिसमें कृष्ण–कथा का व्याख्यान किया जाता था। कथक नृत्य भारतीय संस्कृति में प्रयोग की जाने वाली प्रसिद्ध विधा है, जो उत्तर से दक्षिण

---

(1) देव राजा राधाकान्त / शब्द कल्पद्रुम / खंड–2 / पृष्ठ–160
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत / नाट्यशास्त्र / अध्याय–35 / श्लोक–106
(3)चौधरी सुभद्रा(अनुवाद) / संगीत रत्नाकर / अध्याय–6 / श्लोक–1329

भारत तथा पूर्व से पश्चिम तक के साथ–साथ पाकिस्तान में भी प्रयोग की जाने वाली नृत्य शैली है।

कथक लगभग सभी राज्यों में प्रयुक्त होने वाली नृत्य शैली है, परंतु इसका विवेचन सदैव विवादों में रहा है। करण कों भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में वर्णन किया गया है, कि नृत्य अंगहारों द्वारा निष्पन्न होने वाला तथा कारणों पर आश्रित है। हाथ और पैर के एक साथ समायोजन को नृत्य में करण कहा जाता हैं। वर्तमान कत्थक नृत्य के हस्तक प्रकार को करण से मिलता–जुलता कह सकते हैं। आज की भाषा में इन्हें लयबद्ध व्यायाम कह सकते है। इन कारणों को ताल के साथ लयबद्ध व्यायाम द्वारा आरंभ किया जाता है। भरतनाट्यम शैली में इन हस्तक (करणों) को और आडूब कहा जाता है। भरत मुनि ने नृत्य में दूसरा तत्व अंगहार कहा है, जो करणों के योग से बनता है। मुख्यता अंगहार का अर्थ होता है, शरीर का हलन चलन यह अंगहार जिस प्रकार होता है, उसी तरह से अवनद्ध वाद्यों पर उसी लय अनुसार ताल प्रस्तुत किया जाता है। वर्तमान में भी नृत्य में भी अंगहारों का प्रयोग होता है क्योंकि बिना हलन चलन के नृत्य संभव नहीं है और नृत्य हलन चलन नृत्य में ताल के आधार पर ही होता है। चारी नृत्य ने पाद के रख–रखाव व उठान को चारी कहा जाता है अर्थात पद संचलान पाद है, जो चारी के अंतर्गत समझना चाहिए। वर्तमान कथक नृत्य में यह तत्कार के समान प्रतीत होता है। नाट्य में होने वाला प्रत्येक पद क्रम चारी है और उसी प्रकार नृत्य में भी पद क्रम का महत्व है। पादक्रम द्वारा ही नृत्य संभव होता है। नाट्यशास्त्र में दो प्रकार की चारियों का वर्णन है– आकाशीचारी और भूमिचारी, तथा दोनों के 16–16 भेंद बताए हैं। वर्तमान में यदि देखा जाए तो चारी का ही वर्तमान नृत्य में प्रयोग होने वाला पाद क्रम तत्कार है, जो कथक नृत्य का आधार है। तत्कार द्वारा ही ताल को पैरों द्वारा दिखाया जाता है। जिन छंदों का वादन अवनद्ध वाद्यों पर होता है, उसे ही नृतक अपने पैरों द्वारा दर्शाता है, **उदाहरण–**

धाधिंधिंधा	ताधिंधिंधा	धातिधाऽ	तातिधाऽ
धातिधाऽ	धाऽधति	धाऽधाऽ	धातिधाऽ
धाधिंधिंधा	ताधिंधिंधा	धाऽऽऽ	धाधिंधिंधा
ताधिंधिंधा	धातिधाऽ	तातिधाऽ	धातिधाऽ
धाऽधति	धाऽधाऽ	धातिधाऽ	धाधिंधिंधा
ताधिंधिंधा	धाऽऽऽ	धाधिंधिंधा	ताधिंधिंधा

धातिधाऽ धाऽधाऽ	तातिधाऽ धातिधाऽ	धातिधाऽ धाधिंधिंधा	धाऽधति ताधिंधिंधा धा X

इसी प्रकार पिंडीबदं का वर्णन प्राप्त होता है कि पिंडी बंद आज प्रयोग होता है नाट्यशास्त्र के काल से लेकर आज तक इसका प्रयोग हो रहा है जिसमें नृतकों का समूह मिलकर कभी मयूर, कभी रथ, कभी गणेश जी आदि का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। इसमें नृतक द्वारा गणेश जी की सूड तो कोई कान आदि का स्वरूप लेता है इसका सादृश्य उदाहरण हमें चल चित्रों में भी प्राप्त होता है जो नृत्य आधारित फिल्में बन रही हैं जैसे उदाहरण के तौर पर देखें तो एबीसीडी 2 का भी एक गाना है जिसमें गणेश जी की वंदना को दिखाते हुए पिंडी बंधन किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि वर्तमान में भी पिण्डीबंद का प्रयोग हो रहा है। पैरों को उठाकर विशेष स्थिति में चलना चारी है पाद को दो बार चलाना करण तथा अधिक कारणों से खंड का निर्माण होता है और खंडों द्वारा मंडल बनता है। मंडल से तात्पर्य है गोल घेरा। इन सभी के सहयोग से जिस घेरे या वृत्त का निर्माण होता है, वह मंडल है। नृत्य में सुंदरता और रंजकता हेतु ताल द्वारा इस वृत का निर्माण करते हुए तोड़े या बंदिश की प्रस्तुति की जाती है। इसी प्रकार कह सकते हैं कि नृत्य में वृत्तियां ताल आधारित है क्योंकि नृत्य ताल के बिना संभव नहीं है। चाहे मंडल हो, रेचक हो या वर्तमान संदर्भ में कहें तो तत्कार, चक्कर, भ्रमरी इत्यादि ताल आधारित है। सभी अवनद्ध वाद्यों में ताल के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं, जिसके द्वारा रंजकता का सृजन होता है। **चक्कर उदाहरण—**

धिऽकत धिटधिट तत्तत्धैतत् तत्धैतत्तत्	धिटधाऽ धिटधाऽ तत्धैतत्तत् धैऽऽत्राऽम्	धाधिकत धिटधिट धैऽऽत्राऽम् तत्तत्धैतत्	धीटधाऽ धिटऽत्राऽम् तत्तत्धैतत् तत्धैतत्तत् धा X

4:3:4 नाट्य के संदर्भ में

नाट्यशस्त्र मूलता नाटक का ग्रंथ है, नाट्य कला के विभिन्न पक्षों का संपूर्ण वर्णन इस ग्रंथ में प्राप्त होता है। भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम प्रेक्षा ग्रह के लक्षण कहे हैं, जिसमें रंगमंच अर्थात नाट्य गृह का निर्माण विधि कही है। जिसमें नाट्यगृह की विधि के अनुसार

भूमि विभाजित की जाती है। फिर उसमें आधारशिला रखी जाती है वर्तमान समय में भी जब नाट्य मंडप का निर्माण होता है, तो सबसे पहले उसमें भी भूमि का चयन किया जाता है कि कितने लोग नाटक देखने आने वाले हैं उसी के अनुसार किसी मैदान में नाटक प्रस्तुत करने के लिए भूमि का विभाजन किया जाता है। तत्पश्चात संगीत वाद्य के साथ वादन कर एक नाटक की भूमिका बनाई जाती है कि सबको पता चले कि नाटक होने वाला है उसके उपरांत उस स्थान पर हवन पूजन किया जाता है कि कोई बाधा उत्पन्न ना हो।

उसके लिए देवताओं की पूजा की जाती है, जिस तरह से नाट्यशास्त्र में भी रंग देवताओं की पूजा के विधान कहे हैं। वर्तमान समय में भी जब नाट्य मंडप का निर्माण होता है, फिर उसमें देवताओं का पूजा हवन किया जाता है। ध्यान से देखें तो मनुष्य का जीवन भी नाटक के अनुसार ही चलता है उसमें रोज कोई न कोई नया पात्र जुड़ता है। लोक व्यवहार में भी मनुष्य नाटक ही करते हुए, जीवन व्यतीत करते है। उसी तरह से जब मनुष्य अपने लिए नए घर का निर्माण करता है तो उसकी आधारशिला रखने के पश्चात उसके निर्माण आदि के समय उसमें हवन पूजन करता है। जिस तरह से नाट्यशास्त्र में भी कहा गया है कि रंग देवताओं की पूजा में अन्य वाद्यों का वादन करना चाहिए, उसी तरह से वर्तमान समय में भी पूजा धूप पुष्प आदि द्वारा की जाती है तथा अन्य वाद्य का वादन तथा गायन किया जाता है। उसके बाद नाद घोष करके कार्य संपन्न होता है। इसके बाद नाटक प्रस्तुत करने के लिए तैयारी की जाती है नाटक से पहले जो कार्य होने चाहिए वह देखे जाते हैं जिसे भरत मुनि द्वारा अपने नाट्यशास्त्र में पूर्व विधान कहा है। नाटक के पूर्व होने वाले कार्यों को जब नाटक आरंभ हो तो सबसे पहले धीरे–धीरे पट अर्थात पर्दा खुलता है, साथ ही साथ अवनद्ध वाद्यों का वादन, गायक द्वारा गायन तथा अन्य संगीत वाद्यों का एक साथ वादन होता है। वर्तमान समय में भी जब मंच प्रस्तुती होती है तो सर्वप्रथम मंच पर पर्दा हटता है जिसमें भी अवनद्ध वाद्यों तथा अन्य संगीत वाद्यों का वादन होता है और गायक गायन प्रस्तुत करते हैं। यह सब हो जाने के बाद नाटक प्रस्तुत किया जाता है।

जिसमें सर्वप्रथम सभी वाद्यों का एक साथ वादन होता है। जिसे भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कुतुप कहा है। आज भी नाटक में वृंदवादन (कुतुप)तथा उनके पात्रों के माध्यम से होने वाले भावों को प्रकट करने हेतु ताल की अहम भूमिका होती है। नाट्यशास्त्र भरतमुनि ने कहा है कि जब कुतप वाद्यों की स्थापना हो जाए उसके बाद नृत्य की गीत तथा वीणा

वादन के साथ और अवनद्ध वाद्यों पर ताल के साथ मंच पर प्रवेश करें। उस समय नृतकी के हाथ में पुष्पांजलि के लिए वैशाख स्थान रूचक के साथ प्रवेश करती है उस समय विशुद्ध संगीत तथा जातियों सहित वाद्यों का वादन गीत के अनुकूल करते हुए करना चाहिए। वर्तमान समय में भी जब नृत्य प्रस्तुति होती है तब सर्वप्रथम वाद्य का वादन होता है उसके पश्चात नृतक तथा नृतकी की मंच पर प्रवेश करते हैं जिसे आज कथक नृत्य में आमद या उठान कहते हैं और वर्तमान भरतनाट्यम् नृत्य में भी पुष्पांजलि सर्वप्रथम होती है तथा वाद्यों का सहचार्य और उसके बाद पुष्पांजलि से नृत्य का प्रस्तुतीकरण होता है। उसके बाद भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक के लिए चारी विधान कहा है, जिसमें पात्रों के खड़े होने का विधान कहा है। जिसको ताल के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे जाना जाता है कि पात्र किस देव या राजा के पात्र का निर्वाह कर रहा है। इसमें भरत मुनि द्वारा वर्णन किया गया है कि अगर पात्र ढाई ताल में खड़ा है तो वह विष्णुजी की मुद्रा है। इस तरह से खड़े होने की मुद्रा को नाटक में चारी विधान कहा है। जो ताल के रूप में वर्णित किया है। वर्तमान समय में तो आज चलचित्र का चलन है जिसमें तकनीकों द्वारा सभी के रूप प्रस्तुत किया जाता है, परंतु कभी–कभी मंच पर देखने पर इन चारी का नाटक में आज भी प्रयोग दिखता है उदाहरण के लिए जब कोई पात्र कभी रथ चलाने की क्रिया कर रहा होता है तो उसी तरह से चारी अर्थात हाथ से लगाम खीचना और पैर द्वारा घोड़े की चाल दिखाएगा। उस समय अवनद्ध वाद्य उसी चारी की उसी भूमिका के अनुसार अपने अवनद्ध वाद्य पर ताल प्रस्तुत करता है। जिससे उस चारी का प्रस्तुतीकरण और ज्यादा उभर कर आता है। नाटक में इन चारों को करते हुए गति का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें यह वर्णन होता है कि कौन सी किस पात्र की भूमिका में हो रही है। उसी तरह से उसकी गति तथा चारी की गति होती है अर्थात अगर कोई लंगड़े की भूमिका निभा रहा है, तो वह उसी गति में चारी में चलेगा तथा गति द्वारा अलग–अलग पात्रों की गति अर्थात चल का विस्तृत रूप से वर्णन किया जाता है। इसमें ताल गायन का महत्व बहुत अधिक है अर्थात जिस तरह से पात्र अपनी गति को प्रस्तुत करता है, उसी तरह से अवनद्ध वाद्य पर भी उसी गति के अनुकूल वादन ही किया जाता है। इस प्रकार देखा जाए तो ज्ञात होता है कि नाट्य में भी ताल का महत्व अत्याधिक है क्योंकि बिना ताल के नाटक कभी पूर्ण नहीं है। नाटककार के लिए ताल का ज्ञान होना अति आवश्यक है क्योंकि नाटक भी कि सभी चारी उसकी गति सब ताल पर ही निर्भर है।

निष्कर्ष– इस प्रकार नाट्यशास्त्र में वर्णित ताल शास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के तालपक्ष का वर्तमान परिपेक्ष में किस प्रकार से प्रयोग हो रहा है। भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र के ताल संबंधित जो विषय है उसका आदि से अंत तक सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक रूप से ताल शास्त्र का उल्लेख किया गया है। शोधार्थी द्वारा प्रस्तुत सर्वप्रथम ताल की व्याख्या करते हुए, नाट्यशास्त्र तथा उसके पूर्वर्ती व परवर्ती ग्रंथों में वर्णित ताल की शाब्दिक परिभाषा का उल्लेख किया गया है। ताल की वर्तमान शाब्दिक परिभाषा के साथ उसे जोड़ने का प्रयास किया गया है। उसके पश्चात् ताल के दस–प्राणों का वर्णन किया गया है, जिसे नाट्यशास्त्र में घटक कहा गया है। उसका उल्लेख करते हुए तथा दस–प्राणों की वर्तमान में क्या उपयोगिता है तथा किस रूप में प्रयोग हो रहा है, उसका वर्णन किया गया है तथा उसके बाद संगीत की विधाएं गायन, वादन, नृत्य और नाटक जो भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट है उनके ताल शास्त्र की वर्तमान में क्या उपयोगिता है, इस तथ्य को समझने का प्रयास शोधार्थी द्वारा किया गया है। इस प्रकार संगीत के सभी तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् शोधार्थी इस निष्कर्ष को प्राप्त करता है कि नाट्यशास्त्र में वर्णित ताल की पारिभाषिक शब्दावली की धारणाएं अवश्य अलग–अलग रूप में बदलते हुए, आज तक प्रयोग होती आयीं है। वर्तमान में भी नाट्यशास्त्र के तत्वों के अवशेष प्राप्त होते हैं, यद्यपि कुछ के नाम बदल गए हैं, कुछ की धाराएं, तो कुछ अलग अर्थ में प्रयोग हो रहे हैं तथा कुछ ताल तत्व किसी विशेष शास्त्री,य पद्धति में ही प्रयोग हो रहे हैं। कथित अध्ययन के माध्यम से यह कह सकते हैं कि वर्तमान काल में ताल में कई परिवर्तन हुए है परन्तु इन परिर्वतनों बाद भी ताल पद्धति कई दृष्टियों से प्राचीन ताल पद्धति से जोड़ते हुए, कभी न टूटने वाला संबंध बनाए हुए हैं।

****